

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ४६

सम्पादक

प्रो० सागरमल जैन

प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन एक अध्ययन

डॉ० कमल जैन

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी-५

प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन (एक अध्ययन)

डॉ० कमल जैन



पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
आई० टी० आई० रोड, वाराणसी २२१००५
फोन : ६६७६२

संस्करण : प्रथम १९८८

मूल्य : ६०.००

PRĀCĪNA JAINA SĀHITYA MEMN

ĀRTHIKA JĪVANA : EKA ADHYAYANA

By Dr. Kamal Jain

Edition : First 1988

Price Rs. 60.00

मुद्रक

वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी-१०

प्रकाशकीय

कार्ल मार्क्स ने मानव के समुचित विकास के लिए आर्थिक उत्पादन और समुचित वितरण पर बल दिया है, ताकि मानव जीवन का भौतिक स्तर ऊँचा हो सके। आज से हजारों साल पहले जैन परंपरा के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने एक अर्थ-व्यवस्था का निर्माण किया था जिसमें उत्पादन एवं वितरण के कुछ नियम निश्चित हुए थे। जैनों की मान्यता के अनुसार जब प्रकृति की उत्पादन क्षमता क्षीण होने लगी थी और प्रजा में परस्पर संघर्ष होने लगे थे तो आदितीर्थङ्कर ने अपनी प्रजा का संघर्ष मिटाने के लिए स्वश्रम से समुचित उत्पादन करने की प्रेरणा दी थी। किन्तु जब सञ्चय अधिक होने लगा, तो अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर ने अपरिग्रह के सिद्धान्त द्वारा धनिकवर्ग को अपनी अतिरिक्त संपत्ति को जन-कल्याण के लिये विसर्जित करने की प्रेरणा देकर समवितरण के सिद्धान्त का सूत्रपात किया।

जैन आगम और आगमिक-व्याख्या-साहित्य में जो आर्थिक विषयों एवं प्रश्नों से संबंधित सूचनाएँ मिलती हैं, डा० कमल जैन ने उनका शोधपूर्ण अध्ययन करके प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। हिन्दी में इस प्रकार का ग्रन्थ नहीं था। अतः संस्थान ने इसके प्रकाशन का निर्णय लिया और आज हमें इसे पाठकों को समर्पित करते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

हम ग्रन्थ की लेखिका डा० कमल जैन एवं इस ग्रन्थ की रचना से लेकर प्रकाशन तक सूत्रधार के रूप में कार्य करने वाले प्रो० सागरमल जैन के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करते हैं। यद्यपि इन दोनों के विद्याश्रम से ऐसे-निकट सम्बन्ध हैं कि यह शाब्दिक आभार मात्र औपचारिकता कहा जायेगा।

इस ग्रन्थ के सम्पादन एवं प्रूफ संशोधन में श्री अशोक कुमार सिंह ने अथक श्रम किया, अतः उनके प्रति भी आभार व्यक्त करते हैं। अन्त में इसके सुन्दर एवं सत्वर मुद्रण के लिए वर्द्धमान मुद्रणालय के प्रति तथा प्रकाशन व्यवस्था के लिए डा० शिवप्रसाद के प्रति भी आभार व्यक्त करते हैं।

भूपेन्द्रनाथ जैन
संजो

पुरोवाक्

निवृत्ति मार्गी होने के कारण जैन परम्परा तप, त्याग, संयम आदि के आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों पर ही अधिक बल देती है। यही कारण है कि इसके साहित्य में तप, त्याग, सदाचार जैसे विषयों की ही विस्तृत चर्चा है। परन्तु मेरे मन में सदैव यह विचार आता रहा कि प्राचीनकाल से ही जैन परम्परा को मानने वाला गृहस्थवर्ग भी सदा रहा है, जिसमें सभी वर्ग और वर्ण के लोग थे फिर उसके साहित्य में आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक पक्षों की नितान्त अवहेलना कैसे हो सकती है, अवश्य कुछ ऐसा है जिसे हम खोज नहीं पा रहे हैं। जब डॉ० मोतीचन्द्र की पुस्तक “सार्थवाह” देखी तो लगा कि कुछ प्राचीन जैन ग्रन्थ ऐसे अवश्य हैं, जो मानव-जीवन के आर्थिक पक्षों को उजागर करते हैं। ये ग्रन्थ अधिकतर प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं, जिससे जनसाधारण ही नहीं अपितु विद्वद्वर्ग भी अपरिचित है। ये सामान्यतया सभी पुस्तकालयों में उपलब्ध भी नहीं हैं। इसलिए मेरी यह प्रबल इच्छा थी कि इन मूल स्रोतों के आधार पर कोई ऐसा शोध कार्य करना चाहिए जो तत्कालीन आर्थिक जीवन का परिचय दे सके। मेरी इस इच्छा को साकार रूप प्रो० सागरमल जैन ने दिया। जिन्होंने न केवल मुझे कार्य करने की प्रेरणा दी अपितु मेरा मार्ग-दर्शन करते हुए मुझे प्रोत्साहित भी करते रहे।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस विषय पर अभी तक अधिक शोध पूर्ण साहित्य प्रकाशित नहीं हुआ है। डॉ० जगदीश चन्द्र ने अपनी पुस्तक ‘आगम साहित्य में भारतीय समाज’ में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों का वर्णन अवश्य किया है किन्तु उन्होंने उसमें वर्णित आर्थिक-जीवन का मात्र एक अध्याय में संक्षिप्त परिचय ही दिया है। इसके अतिरिक्त डॉ० दिनेन्द्रचन्द्र जैन की पुस्तक ‘Economic life in India as depicted in Jain Canonical literature’ भी है। ये दोनों इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं कि उन्होंने आगम साहित्य में वर्णित आर्थिक-जीवन का अध्ययन प्रस्तुत किया किन्तु डॉ० जगदीशचन्द्र-जैन और डॉ० दिनेन्द्र जैन दोनों की ही पुस्तकें मात्र आगम

साहित्य पर आधारित होने के कारण जैन-साहित्य में वर्णित आर्थिक-जीवन का एक सीमित अध्ययन ही प्रस्तुत करती हैं किन्तु यह ग्रन्थ आगमों के साथ ही आगमिक व्याख्याओं विशेषतः भाष्यों और चूर्णियों तथा जैन कथा-ग्रन्थों पर भी आधारित है ।

मैंने जिस साहित्य का उपयोग किया है उसके कालक्रम को समझ लेना इसलिये आवश्यक है कि इससे इस बात का संकेत मिल सके कि उपलब्ध सूचनायें किस काल और प्रदेश से सम्बन्धित हैं । जैन आगम साहित्य ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीसे ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक अपना स्वरूप लेता रहा है । अतः उनमें विभिन्न कालों की सामग्री इस प्रकार मिश्रित हो गई है कि कभी-कभी यह निर्णय कर पाना कठिन हो जाता है कि आगम ग्रन्थों में आर्थिक जीवन से सम्बन्धित कतिपय सूचनायें किस काल की हैं । यद्यपि आगम ग्रन्थों और निर्युक्तियों का काल तो बहुत कुछ अनिश्चित है । उनमें कालिक दृष्टि से कई स्तर हैं, किन्तु भाष्यों और चूर्णियों का काल ई० सन् की छठी-सातवीं शताब्दी निश्चित ही है । पुनः इन भाष्य और चूर्णियों में उपलब्ध सामग्री भी हमें दो रूपों में मिलती है — प्रथम आगम ग्रन्थों पर लिखी गई व्याख्याएँ हैं उनमें आगमों में उल्लिखित तथ्य तो आये ही हैं साथ ही व्याख्या ग्रन्थ होने से वे सारे तथ्य भी उनमें समाहित कर लिए गये हैं जो उनके रचना काल के हैं । इस समस्या को लेकर ऐतिहासिक दृष्टि से कहीं-कहीं भ्रान्तियाँ उत्पन्न न हों इसलिये मेरी अपेक्षा है कि इस शोध-प्रबन्ध में उपलब्ध सूचनाओं के काल को समझने के लिये उस सूचना को देने वाले ग्रंथ की कालावधि को ध्यान में रखना होगा । इसी प्रकार उस सामग्री के क्षेत्र को समझने के लिये इन ग्रंथों के निर्माण-क्षेत्र पर भी विचार कर लेना होगा । श्वेताम्बर परंपरा का विपुल प्राकृत साहित्य जो कि आगमों, निर्युक्तियों, भाष्यों और चूर्णियों के रूप में सुरक्षित है और जिसका प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में प्रचुर मात्रा में उपयोग किया गया है वह मुख्यतः उत्तरी एवं उत्तर-पश्चिमी-भारत से ही सम्बन्धित है उनमें दक्षिण भारत से सम्बन्धित घटनाओं का उल्लेख तो है, किन्तु अल्प मात्रा में है । यद्यपि दिगम्बर परंपरा के कुछ पुराण ग्रंथ अवश्य ऐसे हैं जिनका रचना-क्षेत्र दक्षिण भारत ही रहा । यद्यपि इन स्रोतों का उपयोग प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में कम ही हुआ है । अतः क्षेत्र की दृष्टि से इस ग्रंथ में वर्णित विषय सामग्री का सम्बन्ध उत्तरी भारत से ही अधिक है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से जहाँ तक प्रस्तुत ग्रंथ की विषय सामग्री की कालावधि का प्रश्न है सोमदेव के नीतिवाक्यामृतम् के कुछ संदर्भों को छोड़कर यह मौर्य काल से लेकर गुप्तकाल तक आती है। फिर भी इसमें अधिक सामग्री गुप्तकाल से ही सम्बन्धित मानी जा सकती है, क्योंकि परवर्ती आगम, नियुक्तियाँ, भाष्य और चूर्णियाँ—ये सभी लगभग गुप्तकाल की हैं। यद्यपि श्वेताम्बर आगम साहित्य का काल निर्धारण करना तो अत्यन्त कठिन है फिर भी विद्वानों ने उनकी भाषा और विषय-वस्तु को ध्यान में रखते हुये मुख्यरूप से इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया है।

आगम	काल
आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध एवं ऋषिभाषित	—ईसापूर्व चौथी-तीसरी शती
आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध एवं सूत्रकृतांग	—ईसापूर्व तीसरी-दूसरी शती
कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक	—ईसापूर्व पहली शती से ईसा बाद पहली शती (यद्यपि इन ग्रंथों की कुछ सामग्री ईसा पूर्व तीसरी-दूसरी शती की भी है)
शेष आगम ग्रंथ	—ईसा की दूसरी शती से चौथी शती (यद्यपि इनमें भगवती का कुछ भाग प्राचीन माना जाता है)
नियुक्तियाँ	—ईसा की दूसरी शती से चौथी शती
भाष्य और चूर्णियाँ	—ईसा की पाँचवीं शती से सातवीं शती

जैन पुराण साहित्य का काल ईसा की सातवीं-आठवीं शती मान्य है यद्यपि इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। भाष्यों और चूर्णियों को छोड़कर शेष आगम साहित्य का काल अभी तक भी निश्चित नहीं हो पाया है। यद्यपि ऐतिहासिक गवेषणा की दृष्टि से मैं कालावधि के महत्त्व को समझती हूँ किन्तु विषय-सामग्री से सम्बन्धित ग्रंथों के काल-निर्धारण के सम्बन्ध में विद्वानों की अनिश्चितता विवश कर देती है और हमें विवश होकर उन्हें उसी रूप में स्वीकार कर लेना पड़ता है।

प्रस्तुत ग्रंथ में प्रयुक्त जैन ग्रंथ प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। यद्यपि अधिकांश आगम ग्रंथों का हिन्दी और कुछ का अंग्रेजी अनुवाद उपलब्ध है किन्तु भाष्य, चूर्ण और कथा-साहित्य जिनमें सांस्कृतिक सामग्री अधिक मात्रा में पायी जाती है अभी भी अनूदित नहीं हो सका है। मैंने इन ग्रंथों को इनके मूलरूप में ही पढ़ने का प्रयत्न किया है। भाषा की जटिलता के कारण अनेक स्थानों पर अर्थबोध में कठिनाई भी हुई है। मैंने प्राकृत के विद्वानों से उस सम्बन्ध में चर्चा करके उसे समझने का प्रयत्न किया है फिर भी हो सकता है कि किञ्चित् अस्पष्टतायें रह गई हों। साथ ही मैंने कुछ प्राकृत शब्दों को वैसा का वैसा ही ग्रहण कर लिया है और उनका हिन्दी रूपान्तर नहीं किया है। आशा है विद्वज्जन इन कठिनाइयों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्ययन करेंगे।

हिन्दू स्मृतियों की तरह सामाजिक या राजनैतिक व्यवस्था की दृष्टि से जैन-साहित्य में स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं लिखे गये, प्रायः ग्रन्थकार धार्मिक और श्रमण-आचार सम्बन्धी विषयों का विश्लेषण करते हुए प्रसंगवशात् कतिपय आर्थिक विचारों का उल्लेख कर देते हैं। यद्यपि दसवीं शताब्दी के सोमदेव का नीतिवाक्यामृतम् अवश्य ऐसा ग्रन्थ है जो जैनों की सामाजिक और राजनैतिक नीतियों को स्पष्ट करता है। मुख्यतः जैन-साहित्य में आर्थिक व्यवस्था को समझने के लिये हमें विभिन्न ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरी सामग्रियों का ही सहारा लेना पड़ता है। इस सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन के लिये कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा जातकग्रंथ जिनका रचनाकाल जैन आगम साहित्य के आस-पास ही है काफी सहायक सिद्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त विदेशी यात्रियों मेगस्थनीज, फाह्यान के यात्रा-वृत्तान्त और प्राचीन अभिलेख भी उपयोगी हैं और मैंने हिन्दू साक्ष्यों से तुलना भी की है जिससे इस शोध कार्य की उपयोगिता सुस्पष्ट हो जाती है। किसी भी देश का आर्थिक जीवन उसकी सामाजिक, राज-नैतिक और धार्मिक परिस्थितियों पर बहुत कुछ निर्भर करता है। इस-लिये आवश्यकतानुसार सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का भी वर्णन किया है किन्तु प्रमुखता आर्थिक पक्ष की ही रही है।

प्राचीन काल में अर्थव्यवस्था का विभाजन आज की भाँति उत्पादन, विनिमय, वितरण, राजस्व व्यवस्था और उपभोग में नहीं मिलता है। परन्तु मैंने विषय को सम्यक् रूप से समझने के लिये अपने शोध-ग्रन्थ के अध्ययनों का विभाजन आधुनिक अर्थशास्त्र के अनुसार ही किया है।

आर्थिक क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिये धन के महत्त्व को देखते हुये मैंने सर्वप्रथम अर्थ की महत्ता का विवेचन किया है। उत्पादन के मूलभूत साधन—भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध, जिनका डॉ० जगदीश चन्द्र जैन तथा दिनेन्द्रचन्द्र जैन ने अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है, किन्तु उनके महत्त्व को देखते हुए मैंने उनका अधिक विस्तृत विवेचन किया है। वितरण व्यवस्था पर ही समाज का आर्थिक जीवन निर्भर करता है, अतः विभिन्न वर्गों प्राप्त राष्ट्रीय आय का वितरण किस प्रकार होता था इसका मैंने विस्तृत अध्ययन किया है, जिस पर पूर्वलिखित इन ग्रंथों में कोई विचार नहीं किया गया था।

मैंने अपने अध्ययन पर आधारित इस ग्रन्थ को निम्न अध्यायों में विभाजित किया है। प्रथम अध्याय में प्राचीन जैन साहित्य के सर्वेक्षण में प्राचीन जैन आगम साहित्य तथा निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि उनके व्याख्या ग्रन्थ तथा जैन पुराण और कथा साहित्य का सर्वेक्षण किया है। द्वितीय अध्याय में अर्थ का महत्त्व और उत्पादन के साधन में धन के महत्त्व एवं उसके उपाजन के साधन—भूमि, श्रम, पूँजी और प्रबन्ध का विश्लेषण किया है। उत्पादन-प्रक्रिया की विषय-सामग्री के आधिक्य के कारण उसे क्रमशः अध्याय तीन और चार में विभाजित किया है। इस प्रकार तृतीय अध्याय में कृषि और पशु-पालन पर प्रकाश डाला है और चौथे अध्याय में उद्योगधन्धे पर विस्तृत वर्णन किया है। पाँचवें अध्याय में विनिमय, व्यापार, परिवहन और सिक्कों का वर्णन किया है। छठें अध्याय वितरण में उत्पादन के साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी तथा प्रबन्ध से प्राप्त होने वाले लाभांश लगान, पारिश्रमिक, व्याज और लाभ पर प्रकाश डाला है। सातवें अध्याय में राजस्व व्यवस्था में राजकीय आय-व्यय के स्रोतों को स्पष्ट किया है। आठवें अध्याय में सामान्य जीवन-शैली को स्पष्ट करने वाले तत्त्व—भोजन, वेश-भूषा, आवास, मनोरंजन, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा पर प्रकाश डाला है। अन्त में उपसंहार है।

प्रस्तुत शोध-कार्य के निर्देशन का श्रेय प्रो० सागरमल जैन एवं आदरणीया डॉ० विभावती जी को है, जिन्होंने मधुर व्यवहार एवं विद्वत्तापूर्ण निर्देशन से मेरे इस शोध-ग्रन्थ को पूर्ण कराने में सहयोग दिया है। एतदर्थ मैं उनकी कृतज्ञ एवं ऋणी हूँ। पार्श्वनाथ विद्याश्रम के

ग्रन्थालयाधिकारी डॉ० मंगल प्रकाश मेहता की भी आभारी हूँ, जिनसे मुझे निरन्तर सहयोग मिलता रहा। इसी प्रकार विद्याश्रम के शोध-धिकारी डॉ० अरुण प्रताप सिंह और डॉ० रविशंकर मिश्र भी मुझे सदैव सहयोग देते रहे। प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के पुस्तकालयाध्यक्ष से भी पुस्तकों की सहायता प्राप्त हुई है, जिनके लिये मैं उनकी आभारी हूँ। इसी प्रकार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली के पुस्तकालय, जैन श्वेताम्बर पुस्तकालय, दिल्ली के पुस्तकालय तथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ जहाँ से मुझे पुस्तकीय सहायता मिली है।

इस अवसर पर अपने परिजनों का सहयोग भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है। सर्वप्रथम तो मैं अपने पिता श्रवजवन्तराय जी की ऋणी हूँ, जिन्होंने मुझे सदैव ही अध्ययन की प्रेरणा दी है। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि मैं जैन आगम साहित्य के क्षेत्र में शोध कार्य करूँ। यह उनकी प्रेरणा और आशीर्वाद का ही प्रतिफल है कि मैं इस कार्य को सफलता पूर्वक सम्पन्न कर सकी। मेरे पति श्री आर० के० जैन से स्नेह और सहयोग मिलता रहा है। यह केवल उनके प्रोत्साहन का ही परिणाम है कि इस ग्रंथ को लिखने का साहस कर सकी। मेरे दोनों पुत्र सवित और गौरव भी मेरे इस अध्ययन के सहयोगी बने। इस ज्ञान यज्ञ की पूर्णाहुति का श्रेय उन्हें ही है। मेरे श्वसुर श्री प्यारेलालजी जो पंजाब जैन समाज के कर्मठ कार्यकर्ता रहे, आज इसे देखने को हमारे बीच नहीं हैं। यह ग्रन्थ मेरी श्रद्धाञ्जलि के रूप में उन्हें समर्पित है।

—कमल जैन



विषय-सूची

अध्याय : १ प्राचीन जैन साहित्य का सर्वेक्षण

१-७

अंगसूत्र २, उपांगसूत्र ३, मूलसूत्र ३, छेदसूत्र ३,
चूलिकासूत्र ३, प्रकीर्णक ४, आगमों का रचनाकाल ४,
आगमों का व्याख्या साहित्य ५, पुराण तथा कथा
साहित्य ६ ।

अध्याय : २ अर्थ का महत्त्व और उत्पादन के साधन

८-३३

अर्थशास्त्र की परिभाषा ८, जैन परम्परा में अर्थशास्त्र
के उल्लेख ८, जैन परम्परा में अर्थ का महत्त्व ९, अर्थो-
पार्जन के साधन १२ ।

(१) भूमि १३, वनसम्पदा १३, खनिज सम्पदा १४,
जल सम्पदा १४, उत्पादन में भूमि का महत्त्व १५,
भूमि का स्वामित्व १६, राज्य का स्वामित्व १६,
व्यक्तिगत स्वामित्व १७, सामूहिक स्वामित्व १८ ।

(२) श्रम १९, उत्पादन में श्रम का महत्त्व १९, खेति-
हर श्रमिक २१, दास-दासी २१, शिल्पी २३, श्रम-
विभाजन २४ ।

(३) पूँजी २५, उत्पादन में पूँजी महत्त्व २५, बचत
२७, लेन-देन का कार्य करने वाली संस्थायें २९ ।

(४) प्रबन्ध ३१, उत्पादन में प्रबन्ध का महत्त्व ३१,
प्रबन्ध प्रस्तुतकर्ता ३१ ।

अध्याय ३ कृषि और पशुपालन

३४-७३

उत्पादन का महत्त्व ३४, उत्पादक व्यवसाय ३४,

(१) कृषि ३८, कृषि-भूमि ३९, कृषि-श्रम ४१, कृषि
उपकरण ४३, भूकृषण ४५, सिंचाई ४७, खेतों की
सुरक्षा ५०, उपज की कटाई ५१, धान्य-भण्डारण
५२, प्रमुख उपज ५३, प्राकृतिकविपदाये ५६, आर्थिक
जीवन में ग्रामों का महत्त्व एवं व्यवस्था ५७, कृषि
के उन्नयन में राज्य का योगदान ५८, उपवन-उद्यान-
वाटिका ५९ ।

(२) पशुपालन ६२, कुक्कुटपालन ७१, मत्स्य
पालन ७१ ।

अध्याय : ४ उद्योग-धन्धे

७४-९९

आर्थिकजीवन में उद्योगों का महत्त्व ७४, औद्योगिक-
श्रम ७४, उद्योगशालायें ७७, औद्योगिक पूँजी ७७,
प्रमुख उद्योग ७९, १-वस्त्र-उद्योग ७९, सूती वस्त्र
८०, रेशमी वस्त्र ८१, ऊनी वस्त्र, ८१, चर्मवस्त्र ८२
वस्त्र-उद्योग के प्रसिद्ध स्थान ८३, २-धातु-उद्योग
के प्रसिद्ध स्थान ८३, २-धातु-उद्योग ८५, लौह-द्योग
८५, स्वर्ण-उद्योग, ८६, रत्न-द्योग ८७, ३-भाण्ड-उद्योग
८८, ४-काष्ठ-उद्योग ९०, ५-वास्तु-उद्योग ९१,
६-खांड-उद्योग ९२, ७-तेल-उद्योग ९३, ८-लवण
उद्योग ९४, ९-मद्य-उद्योग ९४, १०-चर्म-उद्योग ९५,
११-हाथीदाँत-उद्योग ९६, १२-चित्र-उद्योग ९७,
१३-प्रसाधन-उद्योग ९८, १४-रंग-उद्योग ९८,
१५-कुटीर-उद्योग ९९।

अध्याय : ५ विनिमय

१००-१४६

(१) व्यापार १००, व्यापारी, १०१, व्यापारिक
संस्थान १०२, मापतौल विधियाँ १०६, क्रय के लिये
अग्रिम धन १०९, मूल्य निर्धारण १०९, विज्ञापन
१११, प्राचीन भारत के सार्थवाह १११, सार्थ का
प्रस्थान ११६, आयात-निर्यात १२०।

(२) परिवहन १२३, स्थल-मार्ग १२४, स्थलवाहन
१२७, व्यापारिक स्थल-मार्ग १२९, जल-मार्ग १३०,
जलवाहन १३२, व्यापारिक जलमार्ग १३४, वायुमार्ग
१३६।

(३) सिक्के १३६, सिक्कों की निर्माण-विधि १३७,
स्वर्णसिक्के १३८, रजत सिक्के १४०, ताम्र सिक्के
१४२, अन्य सिक्के १४४, टकसाल १४५, सिक्कों की
क्रय-शक्ति १४५।

अध्याय : ६ वितरण

१४७-१६३

१. लगान १४७, २. पारिश्रमिक तथा वेतन १४९,
३. व्याज १५६, ४. लाभ १५९, वितरण का
स्वरूप १६१।

अध्याय : ७ राजस्व व्यवस्था

१६४-१८४

कोश का महत्त्व १६४, कर निर्धारण के सिद्धान्त १६४, राज्य की आय के मुख्य स्रोत १६६, ग्रामकर १६७, भूमिकर १६८, वाणिज्यकर १७०, वर्तनीकर, १७२, निस्वामिकघन १७३, गृहकर १७४, उपहार और भेंट १७४, विजित राजाओं से प्राप्त धन १७४, अर्थ-दण्ड १७५, वेष्टि १७६, राजकीय कर-संग्रह १७६, कर की उगाही, कर मुक्ति और करापवंचन १७८,—राज्य के व्यय के स्रोत १७९, शासन-व्यवस्था पर व्यय १७९, सैन्य-व्यवस्था पर व्यय १८०, न्याय-व्यवस्था और सुरक्षा पर व्यय, १८१, अंतःपुर व्यवस्था पर व्यय १८२ जनकल्याण पर व्यय १८३ ।

अध्याय : ८ सामान्य जीवन-शैली

१८५-१९७

उपभोग का महत्त्व १८५, भोजन १८५, वेश-भूषा १९८, आवास १९१, मनोरंजन १९३, शिक्षा १९५, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा १९५ ।

उपसंहार

१९८-२०३

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

२०४-२१२

प्रथम अध्याय

प्राचीन जैन साहित्य का सर्वेक्षण

हिन्दू तथा बौद्ध साहित्य के समान ही जैन साहित्य भी भारतीय जीवन के विविध पक्षों को उद्घाटित करता है। जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग अंग-आगम है, जो अर्धमागधी भाषा में निबद्ध है।^१ नंदीसूत्र में कहा गया है कि श्रुतज्ञान के मूलप्रणेता तीर्थंकर महावीर हैं।^२ जैन ग्रंथों में कहा गया है कि महावीर ने जो प्रवचन दिया था उसे गौतम आदि गणधरों ने सूत्रबद्ध किया था। भद्रबाहु ने भी लिखा है कि 'अर्हंतों' ने धर्म का उपदेश दिया तथा गणधरों ने धर्मसंघ के हित के लिये उसे सूत्ररूप में निबद्ध किया।^३

इस प्रकार महावीर के पश्चात् लगभग एक सहस्र वर्ष तक अर्हंतों की सूत्रबद्ध वाणी स्मृति परंपरा से चलती रही। इतने दीर्घकाल तक मौखिक परंपरा में रहने के कारण इनमें से बहुत कुछ विस्मृति के गर्भ में चला गया होगा और बहुत कुछ प्रक्षिप्त भी हुआ होगा। फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस विशाल साहित्य में एक सहस्र वर्ष की परम्परागत विविध सामग्री संग्रहीत है।

समवायांग में आगम साहित्य के दो विभाग कहे गये हैं—“चतुर्दश पूर्व” और “द्वादशगणिपिटक”। संख्या में चौदह होने के कारण पूर्व “चतुर्दशपूर्व” के नाम से प्रसिद्ध हुये।^४ इसी प्रकार संख्या में १२ होने के कारण अंगसूत्र “द्वादशगणिपिटक” और द्वादशांगी के नाम से प्रसिद्ध हुये।^५ महावीर के पूर्व के जैन साहित्य को “पूर्व” कहा गया है। भद्रबाहु के

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाक्खई—समवायांग ३४/२१

२. ‘जयइ सुआणं पभवो महावीरो’—नंदीसूत्र, सूत्र २

३. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा’—आवश्यकनियुक्ति गाथा ९२

अत्थ भासइ अरहा तमेव सुत्ती करेति गणधारी’—बृहत्कल्पभाष्य ११३

‘अत्थं भणति पगासेति अरहा सुत्तं गणहरा’—आवश्यकचूर्ण

४. समवायांग, १४/९३ : नंदीसूत्र, सूत्र ८९.

५. सूत्रकृतांग २/१ : सुय बारसंग-सिहरं, दुवालसंग गणि पिडगं-नंदीसूत्र, १८-४१

अनुसार पूर्व, द्वादशांगी के पहले रचे गये थे। आवश्यकनियुक्ति में ऐसा उल्लेख है कि द्वादशांगी की रचना से पूर्व गणधरों द्वारा अर्हत् भाषित के आधार पर “चतुर्दशपूर्व” रचे गये थे।^१ पूर्वों में निहित श्रुत, ज्ञान की अक्षय निधि था। जो श्रमण १४ पूर्वों का ज्ञान धारण करते थे उन्हें श्रुत केवली कहा जाता था। ‘पूर्व’ सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य न होने के कारण द्वादश अंगों की रचना की गई और पूर्व साहित्य को दृष्टिवाद के अन्तर्गत मान लिया गया।^२

अंगसूत्र

जैन ग्रंथों में सम्पूर्ण आगम साहित्य का वर्गीकरण अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य के रूप में किया गया है।^३ अंग-प्रविष्ट के अन्तर्गत द्वादश अंग^४ और अंग-बाह्य के अन्तर्गत शेष आगम साहित्य माना जाता है।^५ महावीर के, निर्वाण के लगभग एक सहस्र वर्ष बाद देवद्विजमाश्रमण ने इस अंग साहित्य के ११ अंगों का अन्तिम बार संकलन एवं सम्पादन किया, जो अंगसूत्रों के रूप में उपलब्ध हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आगमों में बारहवें अंगसूत्र दृष्टिवाद जिसका एक भाग पूर्व साहित्य था और एकादशांगी के कतिपय अंशों को छोड़कर, शेष आगम साहित्य आज भी उपलब्ध है जबकि दिगम्बर परम्परा के अनुसार समग्र आगम साहित्य विस्मृति के गर्भ में चला गया। ऐसा प्रतीत होता है कि उपलब्ध आगम साहित्य के कुछ अंश दिगम्बर परम्परा के अनुकूल नहीं हैं, इसी से उससे असहमत होने के कारण उसने सम्पूर्ण आगम साहित्य को ही विलुप्त मान लिया है।

अंगप्रविष्ट मूलागमों के बाद अंगबाह्य आगमों का स्थान है। बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार इनकी रचना १४ पूर्वधारी और १० पूर्वधारी श्रुत-केवली स्थविरो (आचार्यों) ने अपने शिष्यों के लिए की थी।

१. आचारांगनियुक्ति गाथा ८-९.

२. नंदीसूत्र, सूत्र ५१ : बृहत्कल्पभाष्य, १४५.

३. अहवा तु समासओ दुविहं पण्णतं तं जहा अंगपविद्धं अंगबाहिरं च-नंदीसूत्र, सूत्र ४५

४. नंदीसूत्र, सूत्र ४५.

५. वही, सूत्र ४४.

६. यद् गणधरैः कृतं तदङ्गप्रविष्टम् । यत्पुनर्गणधरकृतादेवस्थविरद्वैर्निर्यूढम् तान्यनङ्गप्रविष्टमिति १—बृहत्कल्पभाष्य, १४४.

अंगप्रविष्ट साहित्यमें निम्न ११ ग्रन्थ हैं—१ आचारांग, २ सूत्रकृतांग, ३ स्थानांग, ४ समवायांग, ५ भगवतीसूत्र, ६ ज्ञाताधर्मकथा, ७ उपासकदशा, ८ अन्तकृतदशा, ९ अनुत्तरौपपातिकदशा, १० प्रश्नव्याकरण और ११ विपाकदशा, अंगबाह्य आगम साहित्य को पांच भागों—(१) उपांगसूत्र, (२) मूलसूत्र, (३) छेदसूत्र, (४) चूलिकासूत्र और (५) प्रकीर्णक में विभक्त किया गया है।

उपांगसूत्र

अंगों के समान ये भी संख्या में द्वादश हैं—

(१) ओपपातिक, (२) राजप्रश्नोय, (३) जीवाजीवाभिगम, (४) प्रज्ञापना, (५) सूर्यप्रज्ञप्ति, (६) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, (७) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (८) निरयावलिका, (९) कल्पावतंसिका, (१०) पुष्पचूलिका, (११) पुष्पिका, (१२) वृष्णिदशा।

द्वादश उपांगों का प्राचीन ग्रन्थों में कहीं एक साथ उल्लेख नहीं मिलता।^१

मूलसूत्र

ये संख्या में चार हैं—

(१) उत्तराध्ययन, (२) दशवैकालिक, (३) आवश्यक, और (४) पिडनियुक्ति।^२

छेदसूत्र

ये संख्या में छः हैं—

(१) दशाश्रुतस्कंध, (२) बृहत्कल्प, (३) पंचकल्प अथवा जीतकल्प, (४) निशीथ, (५) महानिशीथ और (६) व्यवहार।^३

चूलिकासूत्र

ये संख्या में दो हैं—

(१) नन्दीसूत्र और (२) अनुयोगद्वार।^४

१. ओववाइय रायपसेणइय जिवाभिगम पन्नवणा सूरियपण्णति चन्दपण्णति जंबुदी पण्णति निरयावलिओ कप्पवउसियाओ पुप्फ चूलिआओ प्रप्फयाओ वणिहदसाओ

—दोशो,बेचरदास : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १ पृ० २७.

२. उत्तरज्जयण दसवेयलिय आवस्सय पिडनिज्जुति १—वही,

३. दसासुयखंधं कप्प, पंचकप्प, निसीह, महानिसीह, ववहार।

—वही.

४. नन्दी अनुयोगद्वार, वही.

४ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

प्रकीर्णक

ये संख्या में दस हैं—

(१) चतुःशरण, (२) आतुरप्रत्याख्यान, (३) महाप्रत्याख्यान, (४) भक्तपरिज्ञा, (५) तन्दुलवैचारिक, (६) संस्तारक, (७) गच्छाचार, (८) गणिविद्या, (९) देवेन्द्रस्तव और (१०) मरणसमाधि ।^१

आगमों का रचनाकाल

आगम श्रुत परंपरा से चले आ रहे थे । अतः आगमों की रचना का निश्चित काल निर्धारित नहीं किया जा सकता । आगमों का रचनाकाल महावीर से पूर्व और वलभी वाचना के बाद का नहीं हो सकता । अतः सामान्य तौर पर विद्वानों ने आगमों का काल पाटलिपुत्र की वाचना के काल को माना है ।^२ मूलतः आगमों को लिपिबद्ध करने का निषेध होने से उनके पठन-पाठन की परंपरा मौखिक थी । लिपिबद्ध न होने के कारण और स्मृति-दुर्बलता के कारण आगम अंशतः विस्मृत होते गये । श्रुत के ह्रास और उसमें आई अनिश्चितता के निराकरण के उद्देश्य से परवर्ती आचार्यों ने उसे संकलित, सुव्यवस्थित, साथ ही सुनिश्चित और सम्पादित करने के लिये चार वाचनाय आयोजित कीं थी ।

आवश्यकचूर्णि से ज्ञात होता है कि प्रथम वाचना महावीर के निर्वाण के लगभग १६० वर्ष पश्चात् अर्थात् ३६७ ई० पू० में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में स्थूलभद्र की अध्यक्षता में^३ हुई । दूसरी वाचना महावीर के निर्वाण के लगभग ८२७ अथवा ८४० वर्ष पश्चात् सन् ३०० से ३१३ ई० के मध्य मथुरा में स्कन्दिल की अध्यक्षता में,^४ और तृतीय वाचना लगभग उसी समय वलभी में नागार्जुन की अध्यक्षता में हुई थी जिसे वलभी वाचना कहा जाता है । चतुर्थ और अन्तिम वाचना महावीर के निर्वाण के लगभग ९८० वर्ष पश्चात् अर्थात् ४५४ ई० में देवद्विगण की अध्यक्षता में वलभी नगर में हुई । प्रथम-द्वितीय और तृतीय वाचनाओं

१. १-चउसरण, २-आउरपच्चक्खाण, ३-महापच्चक्खाण, ४-भत्तपरिण्णा
५-तंदुलवेयालियं, ६-संथारग, ७-गच्छाचार, ८-गणिविज्ञा, ९-देवोदत्तय्य,
१०-मरणसमाहो दोशी, बेवरदास : जैन साहित्यका बृहद्इतिहास, भाग १, पृ० २७

२. वही भाग १, पृ० ५१

३. आवश्यकचूर्णि, भाग २, पृ० १८७

४. नंदीसूत्र, सूत्र ३७ : नंदाचूर्णि, पृ० ८

में आगमों को स्मृति के आधार पर मौखिक रूप से व्यवस्थित किया गया। स्कन्दिल और नागार्जुन परस्पर कभी नहीं मिल सके सम्भवतः इसी कारण द्वितीय और तृतीय वाचनाओं के संकलित साहित्य में पाठान्तर और वाचना-भेद है। अनन्तर देवद्विगणि ने पाठान्तर और वाचना-भेद आदि का समन्वय करके उन्हें लिपिवद्ध कर दिया।^१ काल प्रकृति और विस्मृति जन्य दोषों को दूर करके लिपिवद्ध करने से आगमों का मौलिक स्वरूप बहुत कुछ सुरक्षित हो गया। दृष्टिवाद तब भी उपलब्ध न हो सकने के कारण लुप्त घोषित कर दिया गया। पाश्चात्य विद्वान् हरमन जैकोबी के विचार में जैनागमों का रचनाकाल जो भी हो पर उनमें जिन तथ्यों का संग्रह है, वे प्राचीन परम्परा के हैं और इस प्राचीन परम्परा का काल ईस्वी पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की तीसरी-चौथी के मध्य-काल तक माना जाता है।^२ इस साहित्य में प्राचीनतम जैन परम्परार्यों, अनुश्रुतियाँ, लोककथायें, रीतिरिवाज, धर्मोपदेश की पद्धतियाँ, आचार-विचार, संयम पालन की विधियाँ, दर्शन, गणित, ज्योतिष, खगोल-भूगोल, इतिहास, राजनीति, समाज आदि विषयों का वर्णन है जिसके अध्ययन से तत्कालीन आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है।

आगमों का व्याख्या साहित्य

आगमों की भाषा और अर्थ स्पष्ट करने के लिये विभिन्न आचार्यों ने विमुल साहित्य का सृजन किया। आगमों के इस व्याख्यात्मक साहित्य का प्रारम्भ नियुक्ति से होता है। भाषा, शैली व विषय की दृष्टि से व्याख्या साहित्य में ये प्राचीनतम हैं। इनका रचनाकाल ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी के लगभग माना जाता है। ये प्राकृत पद्यों में लिखी गई हैं और संक्षेप में विषय का प्रतिपादन करती हैं। भद्रबाहु ने (१) आवश्यक, (२) दशवैकालिक, (६) उत्तराध्ययन, (४) आचारांग, (५) सूत्रकृतांग, (६) दशाश्रुतस्कन्ध, (७) बृहत्कल्प, (८) व्यवहार, (९) सूर्यप्रज्ञप्ति और (१०) ऋषिभाषित आगम ग्रन्थों पर नियुक्तियाँ लिखीं। इनमें अन्तिम दो नियुक्तियों के अतिरिक्त सभी उपलब्ध हैं। आगमों के कुछ प्रकरणों की नियुक्तियाँ मुनियों के आचार की दृष्टि इतनी महत्व-

१. विजयमुनि, मुनिसमदर्शी, आगम और व्याख्या साहित्य, पृ० १४.

२. जैकोबी, हरमन, सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, खण्ड २२, पृ० ३४.

६ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

पूर्ण हैं कि वे आगम साहित्य में स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठित हो गई हैं, जैसे पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति ।^१

आगमों और निर्युक्तियों को स्पष्ट करने के लिये जिनभद्रगणि और संघदासगणि आदि ने प्राकृत गाथाओं में ही (१) आवश्यक, (२) दशवैकालिक, (३) उत्तराध्ययन, (४) बृहत्कल्प, (५) पंचकल्प, (६) व्यवहार, (७) निशीथ, (८) जीतकल्प, (९) ओघनिर्युक्ति, (१०) पिण्डनिर्युक्ति पर भाष्य लिखे । इनका रचनाकाल ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी के लगभग माना जाता है ।^२

आगम ग्रंथों की गद्यात्मक विशेष व्याख्या चूर्णि कही जाती है । चूर्णियों की भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है । (१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) भगवती (४) जीवाभिगम, (५) निशीथ, (६) महानिशीथ, (७) व्यवहार, (८) दशाश्रुतस्कन्ध, (९) बृहत्कल्प, (१०) पंचकल्प, (११) ओघनिर्युक्ति, (१२) जीतकल्प, (१३) उत्तराध्ययन, (१४) आवश्यक (१५) दशवैकालिक, (१६) नंदी, (१७) अनुयोगद्वार और (१८) जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति पर चूर्णियाँ लिखी गई हैं । इनका रचनाकाल सातवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है ।^३ चूर्णिकारों में जिनदासगणि प्रमुख हैं ।

परवर्ती काल में हरिभद्रसूरि, अभयदेव, मलयगिरि आदि टीकाकारों ने आगमों पर संस्कृत भाषा में टीकाओं की रचना की । आगमों की प्राचीन टीकाओं का रचनाकाल आठवीं शताब्दी से दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक माना जाता है ।^४

पुराण तथा कथा साहित्य

समय-समय पर धर्मदेशना और लोकरंजन के लिये धार्मिक और पौराणिक आख्यानों पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गये । पुराणों में जिनसेन का आदिपुराण, गुणभद्र का उत्तरपुराण और रविसेन का पद्मपुराण एवं कथाओं में संघदासगणि की वसुदेवहिण्डी, विमलसूरि का पउमचरियं, उद्योतनसूरि की कुवलयमालाकहा और हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा तथा धूर्ताख्यान और सोमदेव का यशस्तिलक चम्पू महत्त्वपूर्ण है । इनमें

१. मेहता, मोहनलाल : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-२, पृ० ६८.

२. वही, पृ० १२९.

३. वही, पृ० २९०.

४. वही, पृ० ३४३.

राजा, मंत्री, सेनापति, श्रेष्ठी, सार्थवाह तथा जनसाधारण के जीवन का कुशलता से चित्रण किया गया है। इनका रचना काल सातवीं से दसवीं शताब्दी तक माना जाता है।

यद्यपि प्राचीन जैन आगम साहित्य एवं आगम व्याख्या साहित्य में देश और काल का स्पष्ट और निश्चित संकेत न होने से तथा प्रायः अतिशयोक्तिपूर्ण और कहीं-कहीं दोषपूर्ण वर्णन होने के कारण उनकी विषयवस्तु को ऐतिहासिक धरातल पर खरा नहीं माना जा सकता तथापि इनसे परम्परागत और तत्कालीन ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक चित्र के मूल्यांकन में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है। अतः उनकी उपयोगिता को पूर्णतः अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है। इतिहास ग्रन्थ न होकर भी इनमें देश और कालगत इतिहास संचित हैं। यही इनके अध्ययन की मूल्यवत्ता है।



द्वितीय अध्याय

अर्थ का महत्त्व और उत्पादन के साधन

अर्थशास्त्र की परिभाषा

अर्थशास्त्र में व्यक्ति के व्यावसायिक जीवन से सम्बन्धित उन कार्यों का अध्ययन किया जाता है जो धन के उपार्जन और उपभोग से सम्बन्धित हों। कौटिल्य ने मनुष्य की वृत्ति को, अर्थ और भूमि को प्राप्त करने तथा उसके पालन करने के उपायों को अर्थशास्त्र कहा है। पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान माना है। आधुनिक अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के जन्मदाता एडम स्मिथ के अनुसार अर्थशास्त्र से किसी राष्ट्र के धन का अध्ययन-परीक्षण हो सकता है।^१ स्टुअर्ट मिल के अनुसार अर्थशास्त्र मनुष्य से सम्बन्धित धन का विज्ञान है।^२ एल्फर्ड मार्शल ने अर्थशास्त्र को जीवन के साधारण व्यवसाय में मानव जाति का अध्ययन कहा है। वह व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रियाओं के उस भाग को जाँच करता है जिसका सम्बन्ध भौतिक साधनों की प्राप्ति तथा उनके उपयोग से हो।^३

जैन परम्परा में अर्थशास्त्र के उल्लेख

जैन ग्रंथ निशीथचूर्णि में धन अर्जन करने की प्रक्रिया को 'अट्ठुप्पत्ति' अर्थात् अर्थप्राप्ति कहा गया है।^४ प्रश्नव्याकरण से ज्ञात होता है कि उस काल में 'अत्थसत्थ' अर्थात् अर्थशास्त्र विषयक ग्रन्थ लिखे जाते थे।^५ बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है कि आजीविका अर्जन के लिये गृहस्थ 'अत्थसत्थ' का अध्ययन करते थे।^६ नंदीसूत्र में कहा गया है कि

१. "मनुष्याणां वृत्तिरर्थः तस्या पृथिव्यालाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्र इति", कौटिलिय अर्थशास्त्र, १५/१/१८०
२. स्मिथ एडम, वेल्थ आफ नेशन्स, ३/१.
३. मिल, जान स्टुअर्ट, प्रिन्सिपल्स आफ पोलिटिकल इकोनोमी, १/१.
४. मार्शल एल्फर्ड, प्रिन्सिपल्स आफ इकोनोमिक्स, १/२.
५. निशीथचूर्णि, भाग ४/गा० ६३९७ (अट्ठुप्पत्ती ववहारो).
६. प्रश्नव्याकरण ५/४.
७. बृहत्कल्पभाष्य, भाग १/पृ० ३८८.

विनय से उत्पन्न बुद्धि से मनुष्य अर्थशास्त्र तथा अन्य लौकिक शास्त्रों में दक्ष हो जाते हैं।^१ दशवैकालिकचूर्णि में चाणक्य द्वारा निर्दिष्ट अर्थ उपार्जन के विविध प्रकारों का उल्लेख मिलता है।^२ जैनग्रंथों में 'अथसत्थ' के पुनर्पुनः उल्लेख से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में अर्थशास्त्र नामक कोई ग्रन्थ अवश्य रहा होगा। सम्भवतः यह कौटिल्य का अर्थशास्त्र हो सकता है। जैन पौराणिक परम्परा में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव को अर्थव्यवस्था का संस्थापक माना गया है, जिन्होंने अपने पुत्र भरत चक्रवर्ती के लिये अर्थशास्त्र का निर्माण किया था।^३ हरिभद्रसूरि ने अपने धूर्ताख्यान^४ में धूर्तों की नायिका खण्डापना को अर्थशास्त्र का निर्माता बताया है। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि श्रेणिक का पुत्र अभयकुमार अर्थशास्त्र का ज्ञाता था।^५ वसुदेवहिण्डो से पता चलता है कि अगडदत्त कौशाम्बीवासी आचार्य दढप्पहारि के पास अर्थशास्त्र सीखने गया था।^६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति से यह सूचना प्राप्त होती है कि भरत का सेनापति सुषेण अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में चतुर था।^७

जैन परम्परा में अर्थ का महत्त्व

यद्यपि जैनों का कठोर अपरिग्रह का आदर्श धन के महत्त्व का विरोधी है। उत्तराध्ययन में यह भी कहा गया है कि धन से मोक्ष नहीं मिलता परन्तु दूसरी ओर जैन परम्परा के अनुसार प्रत्येक तीर्थङ्कर के जन्म पर उनकी माता द्वारा देखे गये १४ स्वप्नों में एक स्वप्न लक्ष्मी का होता है। धनदेवी लक्ष्मी का स्वप्न, कुल में धन की वृद्धि का सूचक माना गया है।^८

१. निमित्ते, अथसत्थो अ। नंदीसूत्र, गा० ७४.

२. दशवैकालिकचूर्णि, पृ० १०२.

३. भरतायार्थशास्त्रं च भरतं च ससंग्रहम्।

अध्यायैरतिविस्तीर्णैः स्फुटीकृत्य जगौ गुरुः ॥

आदिपुराण १६/११९.

४. अथसत्थणिम्माया-हरिभद्र सूरि, धूर्ताख्यान, पृ० २४.

५. ज्ञाताधर्मकथांग, १/१६.

६. ईस-अथसत्थ-रहचरियसिक्खाकुसले। आयरिउ—संघदासणि वसुदेवहिण्डो भाग १, पृ० ३६.

७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, १/५.

८. 'अभिसेयदाम', कल्पसूत्र, सूत्र ५.

इससे फलित होता है कि सामाजिक जीवन में धन के महत्त्व को जैनों ने स्वीकार कर लिया था ।

कौटिल्य का अभिमत है कि धर्म और काम अर्थ पर निर्भर हैं।^१ सोमदेव के काल तक भी यही मान्यता प्रचलित थी । उन्होंने धर्म, अर्थ और काम में अर्थ का महत्त्व बताते हुये कहा है कि अर्थ के बिना धर्म और काम संभव नहीं है इसलिये अर्थोपार्जन करना ही श्रेष्ठ है।^२ सोमदेव के अनुसार जो मनुष्य काम और अर्थ की उपेक्षा करके केवल धर्म को ही सतत् उपासना करता है वह पके हुये खेत को छोड़कर जंगल को ही काटता है।^३ सुखी और संतुलित जीवन के लिये ऐसी अपेक्षा की जाती थी कि मनुष्य धार्मिकता के साथ धन का संग्रह और व्यय करे और अपने पार-लौकिक सुख की क्षति न करता हुआ लौकिक सुख को न्यायपूर्वक भोगे।^४ सोमदेवसूरि के अनुसार अर्थ से सब प्रयोजन सिद्ध होते हैं^५ अर्थात् जीवन की सब आवश्यकताओं की पूर्ति अर्थ से ही हो सकती है। इसलिये जो व्यक्ति अप्राप्त धन की प्राप्ति, प्राप्त धन की रक्षा और रक्षित धन की वृद्धि करता है वह धनाढ्य होता है।^६

जैन और हिन्दू दोनों ही परंपराओं में अर्थ का बड़ा महत्त्व था। रामायण में अर्थ को धर्म का मूल बताते हुये कहा गया है कि जैसे पर्वत से नदियाँ निकलती हैं वैसेही अर्थ से सब क्रियायें होती हैं।^७ वाल्मीकि के अनुसार जिसके पास संपत्ति है, उसी के बन्धु हैं, वही पण्डित, पराक्रमी और गुणी कहलाता है।^८ महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है कि बिना अर्थसिद्धि के अर्थ और काम अपूर्ण है, सब क्रियायें धन से ही होती हैं धन से ही धन आता है।^९ जिस मनुष्य के पास धन है, उसी के मित्र

१. 'अर्थमूलौ हि धर्मकामौ'-कौटिल्य अर्थशास्त्र १/७/३.

२. 'कालासहत्वे पुनरर्थ एव धर्मकामयोरर्थमूलत्वात्'—सोमदेवसूरि, नीति-वाक्यामृत, २/१६, १७

३. 'य कामार्थानुपहत्य धर्ममेवोपास्ते सः पक्वक्षेत्रं परित्यज्यारण्यं कर्षति', वही १/४७

४. वही, १/४८.

५. 'यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोर्थः', वही २/१.

६. 'अलब्धलाभो लब्ध परिरक्षणं रक्षित परिवर्धनम् चार्थानुबन्ध', वही, २/३.

७. वाल्मीकि रामायण, ६/८३/२१.

८. वही, ६/८३/३९.

९. महाभारत, शान्तिपर्व। १२/८/२४.

और बान्धव हैं, वही पण्डित और सच्चा पुरुष है ।^१ कौटिलीय अर्थशास्त्र में कहा गया है कि अर्थ के साथ ही सब सम्बन्ध होते हैं, अर्थवान ही सबका आदरणीय होता है, अर्थहीन व्यक्ति की हितकर बात भी नहीं सुनी जाती, उसकी पत्नी भी उसका अपमान कर देती है ।^२ पउमचरियं में धन का महत्त्व बताते हुये कहा गया है कि जिसके पास धन है वही सुखी है, वही पण्डित है, वही यशस्वी है, वही महान् है, धर्म भी उसके अधीन है, अहिंसा के उपदेश वाले धर्म के पालन में भी धनवान् ही समर्थ हो सकता है ।^३ वसुदेवहिण्डी में कहा गया है कि अर्थ से ही सब कार्य सम्भव होते हैं, धन होने से ही लोग आदर करते हैं, अल्पधन जानकर आत्मीय भी मुँह मोड़ लेते हैं, परायों का तो कहना ही क्या ।^४ कुवलयमालाकहा में कहा गया है कि धन के बिना धर्म और काम नहीं हो सकते ।^५ समराइच्चकहा में कहा गया है कि अर्थरहित पुरुष को पुरुष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह न तो यश प्राप्त कर सकता है और न सज्जनों की संगति और न ही परोपकार कर सकता है ।^६ वज्जालगं में कहा गया है कि धनहीन का कोई आदर नहीं करता ।^७ स्मृतियों में भी धन के महत्त्व को स्वीकार किया गया है । बृहस्पति भी धन को समस्त क्रियाओं का उद्गम मानते हैं ।^८ शुक्र ने भी अर्थ को धर्म, काम और मोक्ष का आधार माना है ।^९

१. महाभारत शान्तिपर्व ४/९/२६.

२. जस्सज्जथो तस्स सुहं, जस्सज्जथो पण्डओ य सो लोए । जस्सज्जथो सो गुरुओ, अत्थविहूणो य लहुओ उ । तस्स महत्थो य जसो, धम्मो वि य तस्स होइ साहीणो । धम्मो वि सो समत्थो, जस्स अहिंसा समुदिट्ठा-विमलसूरि, पउमचरियं ३५।६६, ६७.

३. कौटिलीय अर्थशास्त्र, चाणक्यसूत्राणि १९०, २५४, २९१, २९२

४. अत्थस्य किए जाओ वेसाण वि नियमुहाइं अयपति अयपा जाणं वेसे पुरोणु किहं वल्लहो तासिं, वसुदेवहिण्डी १/३४.

५. धम्मत्थो कामोविन्होहिइ अत्थासो सेसपि—कुवलयमालाकहा, पृ० ५७.

६. हरिभद्रसूरि, समराइच्चकहा, ४ २४६.

७. जयवल्लभ, वज्जालग गाथा १४३.

८. बृहस्पतिस्मृति व्यवहारकाण्ड ६/२४.

९. शुक्रनीति १/८४.

अर्थोपार्जन के साधन

किसी भी देश की आर्थिक समृद्धि में वहाँ की भोगौलिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। सौभाग्य से यहाँ की जलवायु भूमि, वन, खनिज, नदियों आदि ने देश को समृद्ध बनाया है। उक्त साधनों के अतिरिक्त जिन साधनों के सहयोग से धन का उत्पादन होता है उन्हें उत्पादन के साधन कहा जाता है। आधुनिक अर्थशास्त्री एल्फर्ड मार्शल ने धनोपार्जन के साधनों का वर्गीकरण भूमि, श्रम, पूँजी और प्रबन्ध के रूप में किया है। उनके अनुसार भूमि के बिना कुछ भी उत्पादन सम्भव नहीं है अतः उत्पत्ति का प्रथम और आधारभूत साधन भूमि माना गया है चूँकि श्रम के योग के बिना भूमि से उत्पत्ति सम्भव नहीं है इसलिये श्रम को उत्पत्ति का दूसरा साधन माना जाता है। चूँकि भूमि और श्रम के होते हुये भी पूँजी के बिना समुचित उत्पादन सम्भव नहीं है अतः पूँजी को उत्पत्ति का तीसरा साधन माना गया है। भूमि, श्रम और पूँजी के उपलब्ध होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि उत्पादन व्यवस्थित हो। इन सभी साधनों को उत्पादन कार्य में लगाने के लिये तथा उनमें समन्वय स्थापित करने के लिये उचित प्रबन्ध की आवश्यकता पड़ती है इस कारण प्रबन्ध को उत्पत्ति का चौथा साधन माना गया है।^१

जैन ग्रंथों में उत्पत्ति के साधनों का ऐसा वर्गीकरण नहीं मिलता है, परन्तु अध्ययन की दृष्टि से मैंने उपलब्ध सामग्री को उपरिलिखित वर्गीकरण में व्यवस्थित किया है।

भूमि

भूमि अर्थ उत्पत्ति का महत्वपूर्ण साधन है। मौर्यकाल में अधिक उत्पादन देने वाली, अर्थ प्राप्ति में सहायक, सुख समृद्धि की दायक रत्न-गर्भा भूमि को ही राज्य का मुख्य आधार माना गया था।^२ सोमदेवसूरि ने भी अन्न, जल, सुवर्ण, चांदी, पशु-पक्षी देने वाली को पृथ्वी कहा है।^३ आधुनिक परिभाषा में भूमि का अर्थ बड़ा व्यापक है, उसमें मात्र कृषि-भूमि का ही नहीं वरन् अर्थोत्पत्ति के स्रोत, भूमि से प्राप्त होने वाले, सभी

१. मार्शल एल्फर्ड, प्रिन्सिपल्स आफ इकोनामिक्स, खण्ड ४/५० ११५.

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १५/१८०.

३. “धान्यहिरण्यपशुकुप्यवृष्टिफलदा च पृथिवी”, सोमदेव, नीतिवाक्यामृत, ५।४

प्राकृतिक पदार्थ आते हैं।^१ इस प्रकार वन सम्पदा, खनिज सम्पदा और जलसम्पदा की गणना भी भूमि के अन्तर्गत की जाती है।

वन सम्पदा

प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन में वनों का महत्त्वपूर्ण स्थान था वन विभिन्न प्रकार के लता, गुल्म और औषधियों से परिपूर्ण थे। जैनसाहित्य में बड़े-बड़े वनों का उल्लेख आता है।^२ उत्तराध्ययनचूर्ण से ज्ञात होता है कि राजगृह के बाहर १८ योजन की अटवी थी।^३ औपपातिकसूत्र से ज्ञात होता है कि चम्पा नगरी के वनों में तिलक, बकुल, लकुच, छत्रोप, शिरीष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण, लौधधन, चन्दन, नीम, कुडच, कदम्ब, पनस, दाडिम, शाल, तमाल, प्रिय, प्रियंगु, परोपग आदि वृक्षों की सघन पंक्तियाँ थीं जो सभी ऋतुओं के फलों और पुष्पों से लदी रहती थीं।^४ वनों में तोता, मोर, मैना, कोयल, भृंगारक, कोण्डलवा, चकोर, नंदीमुख, तीतर, बटेर, बत्तक, चक्रवाक, कलहंस, सारस, आदि^५ और बकरे, खरगोश, मेष, रीछ, सांभर, सूअर, चीता, शेर, हाथी, चमरी गाय आदि जानवर पाये जाते थे। बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि लकड़हारों, घसियारों, पत्तहारकों, शिकारियों और जंगली जातियों की जीविका वनों से ही चलती थी।^६ चर्म, कस्तूरी, चंवर और हाथीदाँत जिनका नगरों में बहुविध प्रचार था, वन्य पशुओं से प्राप्त होते थे।^७ वनों पर विविध उद्योग आधारित थे। जिनमें काष्ठ, चर्म, हाथीदाँत, लाख आदि पर आधा-

१. मार्शल एलफर्ड, प्रिन्सिपल्स आफ इकोनामिक्स, खण्ड ४, पृ० ११५.

२. भगवती सूत्र, १/१/३३ : प्रज्ञापना १/४० : औपपातिकसूत्र ३.

३. उत्तराध्ययनचूर्ण, ८/२५८

४. 'सेणं असोववरपायवे अण्णेहि बहूहि तिलएहि, लउएहि त्तोवेहि, सिरीसेहि, सत्तवण्णेहि, दहिवण्णेहि, लोद्धेहि, धवेहि, चंदणेहि, अज्जुणेहि, णीवेहि, कुडएहि, कलवेहि, सवेहि, फणसेहि, दाडिमेहि, सालेहि, तालेहि, तमालेहि, पियएहि, पियंगूहि, पुरोवगेहि, रायरुक्खेहि, नंदीरुक्खेहि सव्वओ समेता संपरिक्खत्ते औपपातिकसूत्र, ६.

५. प्रश्नव्याकरण १/९.

६. विपाक ४/६ : प्रश्नव्याकरण १/६.

७. बृहत्कल्पभाष्य, २/१०९७.

८. प्रश्नव्याकरण ४/५ : दन्त हस्त्यादीनां, 'चम्पा' वग्धादीण 'वाला' चमरीणं, निशीचूर्ण भाग २, गा० १०३२.

१४ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

रित उद्योग प्रमुख थे ।^१ उपासकदसांग में वनकर्म अर्थात् लकड़ी काटने, अंगारकर्म अर्थात् कोयला बनाने का उल्लेख है,^२ जो वनों पर ही आधारित थे । आचारांग से वनोत्पादित वस्तुओं में लकड़ी का आर्थिक महत्त्व ज्ञात होता है ।^३

खनिज सम्पदा

जैन ग्रन्थों में विविध प्रकार के खनिज पदार्थों के उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक शताब्दियों में लोगों को खनिज पदार्थों का पर्याप्त ज्ञान था ।^४ जिस स्थान पर लोहा, ताँबा आदि खनिज द्रव्य निकाले जाते थे उसे “आकर” कहा जाता था ।^५ उत्तराध्ययन आदि जैन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि खानों से खारी मिट्टी, लोहा, ताँबा, सीसा, चाँदी, सुवर्ण वज्र, हरिताल, मनसिल, शस्यक, अंजन, प्रवाल, अभ्रपटल, अभ्रमालुक, गोमेदक, रुचक, अंकरत्न, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुजमोचक, इन्द्रनील, चन्दन, गेरुक, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्राप्रभ, वैदूर्य, जलकान्त, सूर्यकान्त आदि खनिज पदार्थ निकाले जाते थे ।^६

कौटिलीय अर्थशास्त्र से भी मौर्यकाल में पाये जाने वाले उक्त खनिज पदार्थों की पुष्टि होती है ।^७ देश की खनिज सम्पदा से धातु उद्योग में बड़ी उन्नति हुई थी ।

जल सम्पदा

सर्वत्र मानव सभ्यता का विकास नदियों की उपजाऊ घाटियों में ही हुआ, जिससे जल की सुविधा के साथ-साथ कृषि हेतु उपयुक्त भूमि व

१. उपासकदसांग, १/३८.

२. वही, १/३८.

३. आचारांग, २/४/१/१३८.

४. प्रज्ञापना १/२४ : जीवाभिगम, ३/२/२१.

५. बृहत्कवभाष्य, २/१०९०.

६. अय-तंब तउय-सीसग-रुप्प-सुवण्णे य वइरे य, हरियाले-हिगुलुए, मणोसिला, सासगजंणपवाले अभ्रपडलऽभ्रमालुक बादरकाए मणिविहाणायोमेज्जए य रुयगे अंके फलिहे य लोहियक्खे य मरगय मसारगल्ले भुयमोयग इंदनीले य चंदण गेरुय हंसगब्ध पुलये सौगंधिए य बोधव्वे चन्दप्पह-वेरुल्लिए जलकंते सूरकन्तेजच-उत्तराध्ययन ३६/७३/७६; सूत्रकृतांग २/२/७४५; प्रज्ञापना १/२४, जीवाभिगम १/२/२१.

७. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/६/२४.

पशुपालन के लिये उपयुक्त चरागाह भी सुलभ हो जाता था। भारत में जल सम्पदा का कभी अभाव न था। कृषि और यातायात के साधन के रूप में नदियों का बड़ा महत्त्व था। रुद्रदाम के जूनागढ़ अभिलेख से सूचित होता है कि महाक्षत्रप ने चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में बनवाई गई सुदर्शन झील और उस पर बने बाँध का जीर्णोद्धार कराया था। इस प्रसंग से मौर्यकाल से ही सिंचाई के लिये झील और बाँध की उपयोगिता पर प्रकाश पड़ता है।^१ पउमचरियं में सिंचाई के लिये नदियों पर बाँध बनाने का उल्लेख है।^२ प्रश्नव्याकरण में सिंचाई के लिये पुष्करिणी, बावड़ी, कुआँ, तालाब, सरोवर आदि का उल्लेख है। नदियों और सरोवरों से मुक्ता, शंख, अंक और कौड़ियाँ प्राप्त होती थीं।^३ विपाकसूत्र में नदियों, सरोवरों और तालाबों में मत्स्य पालन होने का भी उल्लेख है।^४

उत्पादन में भूमि का महत्त्व

प्राचीनकाल में मनुष्य के आवास, कृषि और उद्योगों के लिए पर्याप्त भूमि थी। देश का अधिकांश भाग घने जंगलों से आच्छादित था। प्रश्नव्याकरण से ज्ञात होता है कि कृषि की माँग बढ़ने पर वन भूमि को कृषि भूमि में बदलने के लिये जंगलों को जलाकर साफ कर लिया जाता था।^५ कौटिल्य के अनुसार जो किसान बंजर या ऊसर भूमि को अपने श्रम से कृषि योग्य बनाता था, वह जब तक राज्य को कर देता रहता था, भूमि पर उसका अधिकार बना रहता था।^६ मनुस्मृति के अनुसार जो वृक्ष आदि काटकर वन्य-भूमि को कृषि योग्य बनाता था, वही उसका स्वामी हो जाता था।^७ इन उल्लेखों से प्रतीत होता है कि मौर्यकाल और गुप्तकाल में कृषि और उद्योगों की वृद्धि के कारण कृषि-भूमि की माँग बढ़ गई थी, जिसकी पूर्ति वन्य भूमि साफ कर की जाती थी।

१. रुद्रदाम का जूनागढ़ अभिलेख—नारायण, ए० के० : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह २, पृ० ४३.
२. विविह जलजन्तविरइय—निरुद्धजलभरिय कूलतीराए—पउमचरियं १०/३६.
३. प्रश्नव्याकरण १/१४, १/३.
४. विपाकसूत्र, ८/३.
५. गहणाइं वणाइं खेत खिल्लभूमि वल्लराइं उतणणण संकडाइं—प्रश्नव्याकरण २/१३.
६. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/१/१९.
७. मनुस्मृति, ९/४४.

भूमि का स्वामित्व

प्राचीनकाल में भूमि स्वामित्व के प्रश्न को लेकर बड़ा मतभेद है ।^१ उपलब्ध तथ्यों के आधार पर भूमि पर तीन प्रकार का अधिकार परिलक्षित होता है—

- (१) राज्य का स्वामित्व,
- (२) व्यक्तिगत स्वामित्व,
- (३) सामूहिक स्वामित्व ।

राज्य का स्वामित्व

बृहत्कल्पभाष्य में राजा को पृथ्वी का स्वामी कहा गया है ।^१ कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार भूमि राज्य की सम्पदा थी ।^२ यूनानी यात्री मैगस्थनीज के यात्रावृत्तान्त से भी इस बात की पुष्टि होती है ।^३ कौटिल्य के अनुसार जो भूमि राज्याधिकारियों को वेतन स्वरूप दी जाती थी मात्र उसकी आय का ही वे उपभोग कर सकते थे, उसका विक्रय और उसे बन्धक रखना उनके अधिकार क्षेत्र से बाहर था ।^४ राजा से दान में प्राप्त भूमि की मात्र आय के उपभोग का ही अधिकार बाह्यणों, उच्चाधिकारियों और बौद्ध संघों का था, विक्रय करने का नहीं । इससे स्पष्ट होता है कि वे दान में प्राप्त भूमि के स्वामी नहीं होते थे ।^५ फलतः मौर्यकाल और गुप्तकाल में किसी न किसी रूप में राजा का ही भूमि पर अधिकार होता था । कौटिलीय अर्थशास्त्र में वनों, खनिज पदार्थों और भूमिस्थ निधि पर राजा का अधिकार बताया गया है ।^६ निशीथचूर्णि से भी ज्ञात होता है कि उस काल तक भी भूमिस्थ निधि पर राजा का ही अधिकार था ।^७

१. बृहत्कल्पभाष्य, ४/३७५७.

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/१/१९.

३. रेपसन ई० जे० : द कैम्बिज हिस्ट्री आफ इण्डिया द्वितीय भाग, पृ. ३६८.

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/१/१९.

५. प्रवरसेन का चमकपुर ताम्र लेख; फ्लीट, जान फेथफुल भारतीय-अभिलेख संग्रह पृ० २९७.

६. कौटिलीय अर्थशास्त्र, ४/१/७६,

७. एक्केणं वणिणं णिहि उक्खणियो तं अण्णेहि णाउ रण्णो णिवेइयं वणिओ दडिओ णिहीय से हडो, निशीथचूर्णि, ४/६५२२.

ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि नंदन-मणिकार ने राजा श्रेणिक को धन भेंट करके पुष्करिणी बनाने की आज्ञा प्राप्त की थी।^१ **वसुदेवहिण्डी** में नगर के बाहर ऐसे खेतों का वर्णन है जिन्हें राजा ने कृषकों को कृषि के लिये दिया था। जो किसान खेतों को हानि पहुँचाते थे, उन्हें अपना घोषित करते थे, उन्हें दण्डित करके दण्ड के रूप में प्राप्त धन राजकोष में जमा कर दिया जाता था।^२ यद्यपि राजा भूमि का पूर्ण स्वामी था तथापि उसका अधिकार केवल भूमि की उपज के निश्चित भाग तक ही सीमित था।

व्यक्तिगत स्वामित्व

राज्य में राजकीय सम्पदा के अतिरिक्त निजी सम्पदा भी होती थी। **प्रश्नव्याकरण** के अनुसार ऐसी सम्पदा में धन, धान्य, खेत, घर, दास-दासी और पशु की गणना की जाती थी।^३ इच्छा परिमाण व्रत के पाँच अतिचारों (दोषों) में एक क्षेत्र-वास्तु परिमाणातिक्रमण था।^४ खेत और गृह के परिमाण से भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की पुष्टि होती है। जैन साहित्य के कुछ संदर्भों से ज्ञात होता है कि गाथापति और धनिकों के पास पर्याप्त भूमि हुआ करती थी जैसे **उपासकदशांग** के अनुसार आनन्द गाथापति ५०० हल भूमि का स्वामी था।^५ ग्रामों की कृषि योग्य भूमि में किसानों की व्यक्तिगत पट्टियाँ होती थीं। जिनको एक दूसरे से अलग करने के लिये सीमा-चिह्न या सिचाई की नालियाँ होती थीं। **व्यवहारभाष्य** से ज्ञात होता है कि एक किसान ने अपने खेतों पर इस प्रकार जुताई कर दी कि उसके सीमा-चिह्न ही मिट गये।^६ **मनुस्मृति** में भी कृषिकर्म वैश्यों का धर्म बताया गया है। अतः उनके पास

१. ज्ञाताधर्मकथांग १३/१५

२. एते नगरस्य बहिया सुत्तविभक्ता.....एयाणि जणस्स नयरवासिणो खेत्ताणि आजोविओसहिंसं पाइणणिमित्तं.....ताणि अम्हं खेत्ताणि ।.....त्ति वुच्चति..... ततो ते विणयत्थंदण्डो दोसानुरुवो । सो अम्हं कोसं पविसइ,—वसुदेवहिण्डी भाग १ पृ० ९१.

३. हिरण्यसुवर्णखेतवत्थुं, णदासी-दास-भयग-पेस-हय-गय, गवेलगंव,—प्रश्नव्याकरण २/५/१५६; बृहत्कल्पभाष्य २/८२५; आवश्यकचूर्ण २/२९२.

४. खेतवत्थुविहि परिमाणं करेइ—उपासकदशांग १/५० २७.

५. पंचहिं हलसएहिं नियत्तणसइएणं हलेणं, वही, १/५० २७.

६. व्यवहारभाष्य, भाग ७/४४३.

भू-सम्पत्ति अवश्य होती होगी।^१ गुप्तकाल के कई ताम्रलेखों से भूमि के विधिवत् विक्रय का पता चलता है। दामोदरपुर ताम्रपत्र के अनुसार तीन दीनार में एक कुल्यावाय भूमि खरीदी जा सकती थी।^२ इसी प्रकार पहाड़पुर के ताम्रपत्र लेख के अनुसार पुण्ड्रवर्धन भुक्ति में एक ब्राह्मण दम्पति ने तीन दीनार में डेढ़ कुल्यावाय भूमि क्रय करने के लिये राजा को प्रार्थना-पत्र दिया था।^३ पुस्तकपाल और राज्याधिकारियों की स्वीकृति के बाद गाँव के मुखिया, सभ्यजन और राज्याधिकारियों के सामने भूमि माप कर, उसका क्षेत्र निश्चित करके विक्रय की जाती थी। भूमि के मूल्य का १/६ भाग राजकोष को दिया जाता था।^४ राजा कभी-कभी राज्य की सुरक्षा करने वाले सामन्तों और उच्चाधिकारियों की सेवा से प्रसन्न होकर उन्हें भूमि दान कर देते थे। **विपाकसूत्र** में ऐसे ही राष्ट्रकूट (रट्ठकूड) का वर्णन है जो विजय-वर्धमानखेट के ५०० गाँवों का अधिपति था।^५

सामूहिक स्वामित्व

जिस भूमि पर एक से अधिक व्यक्तियों का संयुक्त अधिकार होता था उसे सामूहिक स्वामित्व वाली भूमि कहा जाता था। ग्रामीण सामूहिक रूप से ऐसी भूमि की सुरक्षा और प्रबन्ध के उत्तरदायी होते थे। **आचारांग** के वर्णन से ज्ञात होता है कि चरागाह पर सामूहिक स्वामित्व था।^६ इन पर ग्रामवासियों का समान अधिकार था और गाँव के सभी पशु उस पर चरते थे। **मनुस्मृति** के अनुसार गाँवों के चारों ओर १०० धनुष की भूमि सामूहिक संपत्ति थी।^७ **आचारांग** से सूचित होता है कि गाँव की वंजर भूमि को चरागाहों में बदल दिया जाता था और चारे की सुविधा अनुसार चरागाहें भी बदलती रहती थीं।^८ पाणिनि ने भी कहा है कि चरागाहों में

१. मनुस्मृति, १/९०.
२. उपाध्याय वसुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० १६१.
३. मैटो, एस० के० : इकोनामिक लाइफ आफ इण्डिया इन गुप्त पीरिएड, पृ० ५९.
४. वही, पृ० ४९.
५. विपाकसूत्र, १/९.
६. आचारांग, २/१०/१६६
७. मनुस्मृति, ८/२५७
८. आचारांग, २/१०/१६६

पशु स्वच्छन्द चरते थे और उनके लिये चारे की उपलब्धि के अनुसार नई-नई जगह गोष्ठ बना लेते थे।^१

इस प्रकार हम देखते हैं कि भूमि पर राज्य का, व्यक्तिगत और सामूहिक तीनों ही तरह का स्वामित्व प्रचलित था। वैधानिक रूप से भूमि का स्वामी कोई भी रहा हो कृषक अपने परिश्रम से धान्य-फल उत्पन्न करते थे और उसका उपभोग करते थे। भूमि राज्य से प्राप्त की गई हो अथवा क्रय की गई हो उसके स्वामी को राजस्व देना पड़ता था पर धर्मार्थ संघों को दान दी हुई भूमि राजस्व से मुक्त होती थी।^२

श्रम

उत्पादन में श्रम का महत्त्व

श्रम उत्पादन का मूलभूत साधन है। श्रम से ही देश में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का पर्याप्त विदोहन सम्भव है। आधुनिक अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से श्रम के अन्तर्गत शारीरिक और मानसिक दोनों तरह के श्रम समाहित हैं। इस प्रकार श्रम करने वालों में कृषि और उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों और शिल्पियों के अतिरिक्त अधिकारी, वैद्य, व्यापारी आदि भी आ जाते हैं। अर्थशास्त्र में व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया श्रम नहीं मानी जाती। वही क्रिया श्रम मानी जा सकती है जिससे सेवा या किसी प्रकार की सामग्री का निर्माण हो और जो आर्थिक उद्देश्य से की गई हो।^३

सूत्रकृतांग की रचना के काल में श्रम पर्याप्त था, गृहपतियों के पास काम करने वालों में भागीदार, कर्मकर, भूतक, कुटुम्बी, सेवक, संदेशवाहक और दास-दासियों का उल्लेख है।^४ इससे प्रतीत होता है कि उस काल में श्रम

१. पाणिनि अष्टाध्यायी, ३/३/११९, ५/२/१८.

२. महाराज हस्तिन का खोह ताम्रपत्र अभिलेख और महाराज घरसेन द्वितीय का ताम्रपत्र अभिलेख : फ्लोट, जानफेथफुल : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, पृ० १२४ और २०१.

३. एलपर्ड मार्शल : प्रिंसिपल आफ इकोनोमिक्स, उल्लिखित, वीरेन्द्र टण्डन—अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, पृ० १६८.

४. बाहिरिया परिसा भवइ, तंजहा-दासे ति वा पेसे ति वा भयए ति भाइल्लेवा कम्मकरइ ति वा भोगपुरिसेइ—सूत्रकृतांग २/७१३ : प्रश्नव्याकरण १०/३, बृहत्कल्पभाष्य, ३/२६३४.

का अभाव नहीं था। व्यवहारभाष्य में उल्लेख है कि दास जीवनपर्यन्त स्वामी के पास रहकर उसकी सेवा करते थे। भृत्य धन लेकर अस्थायी काल के लिये काम करते थे।^१ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि कर्मकर दीर्घकाल के लिये अनुबन्धित होकर अपने स्वामी के खेतों में हल चलाते, बीज बोते और खेतों की रक्षा करते थे।^२ प्रश्नव्याकरण में बताया गया है कि संदेशवाहक दूसरे गांव में संदेश पहुँचाते और वहाँ से सन्देश लाते थे, भागीदार बटाई पर खेती करते थे।^३

प्राचीन भारत में मनुष्य प्रायः शारीरिक श्रम पर ही निर्भर करता था जैसा कि निशीथचूर्णि में बताया गया है कि कृषि और कुटीर उद्योग शारीरिक श्रम पर ही आधारित थे।^४ श्रमिक और कर्मकर किसी विशेष व्यवसाय की दक्षता नहीं रखते थे बल्कि वे शारीरिक श्रम करके जीविकोपार्जन करते थे। वसुदेवहिण्डी में उल्लेख है कि अकुशल श्रमिक सारा दिन परिश्रम करके कुछ 'कहापन' ही अर्जित कर पाता है जबकि कुशल श्रमिक बुद्धिबल से कम परिश्रम करके भी अधिक धन अर्जित करता है।^५ पाणिनि ने भी किसी प्रकार का शिल्प विशेष न जानने वाले मात्र शारीरिक श्रम करने वाले साधारण अकुशल श्रमिक को कर्मकर और उसके पारिश्रमिक को भृत्ति तथा शिल्प जानने वालों को शिल्पी या कारि और उनकी भृत्ति को वेतन कहा है।^६

आधुनिक अर्थशास्त्र की परिभाषा में मजदूर आदि साधारण श्रमिक को "अकुशल श्रमिक" और दूसरे शिल्प जानने वालों को कुशल श्रमिक कहा जाता है। इनके अतिरिक्त कुछ अधिकारी, आचार्य, अध्यक्ष, वैद्य आदि भी थे जिनकी गणना न तो शिल्पियों में की जाती थी और न श्रमिकों में। ये अपनी सेवाओं के बदले वेतन पाते थे। इनकी सेवाओं से यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से कोई उत्पत्ति नहीं होती थी परन्तु परोक्ष रूप से देखा जाये तो उनकी सेवाओं से राज्य को कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता था।

१. व्यवहारभाष्य ९/३.

२. निशीथचूर्णि, ३/४८४८.

३. प्रश्नव्याकरण १०/३ : व्यवहारभाष्य, ६/१६३, १६४.

४. निशीथचूर्णि, २/५२२

५. वसुदेवहिण्डी, २/२६४

६. पाणिनि अष्टाध्यायी, १/२/२२, ३/१/२६.

खेतिहर श्रमिक

वसुदेवहिण्डो में वर्णित है कि प्रायः कृषक और उसका परिवार स्वयं ही मिल कर खेती करते थे।^१ किन्तु बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि कुछ समर्थ कृषक, जिन्हें कुटुम्बिन कहा जाता था, अपनी खेती के लिये कर्मकरों, भागीदारों और दासों की नियुक्ति करते थे।^२

दास-दासी

सेवा के लिये श्रम करने वालों में दास-दासी का बड़ा महत्त्व था। जैनग्रंथों में व्यक्तिगत सम्पत्ति में धनधान्य, क्षेत्र, वास्तु, सोना-चांदी, गृहोपयोगी उपकरणों आदि के साथ दास-दासी की भी गणना की गई है।^३ व्यवहारभाष्य से ज्ञात होता है कि साधारण गृहस्थ भी दास रखते थे, जो खेती में सहयोग करते थे।^४ ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि गृह-कार्य हेतु भी दास-दासियाँ सुलभ थीं, जो घर में खाना बनाना, कूटना, पीसना, कुएँ से पानी लाना और स्वामी की सेवा करना आदि सभी कार्य करती थीं।^५ राजपरिवारों और सम्पन्न परिवारों में शिशुओं के लालन-पालन हेतु धात्रियाँ नियुक्त की जाती थीं। आचारांग में पाँच प्रकार की धात्रियों का उल्लेख है।^६ यथा—क्षीरधात्री (दूध पिलाने वाली), मण्डनधात्री (वस्त्रा-भूषित करने वाली), मज्जनधात्री (स्नान कराने वाली), अंकधात्री (गोद लेने वाली), क्रीडापनधात्री (खेल खिलाने वाली)। जैन साहित्य में दास-दासियों को विदेशों से मंगाये जाने का भी उल्लेख है। औपपातिक में उल्लेख है कि वे अपने देश को वेशभूषा में रहते थे और भारतीय भाषा को न जानने के कारण संकेतों के माध्यम से बातें करते थे।^७ जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति से ज्ञात होता है कि भरतचक्रवर्ती के अन्तःपुर की देखभाल विदेशों से आई हुई दासियाँ करती थीं।^८

१. वसुदेवहिण्डो, भाग १, पृ० ३०.

२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २/९८८.

३. प्रश्नव्याकरण १०/३ : बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३/२२०३.

४. व्यवहारभाष्य, भाग ६/२०८.

५. ज्ञाताधर्मकथांग २/२५, ७/२९ : सूत्रकृतांग १/४/५७७.

६. आचारांग २/१५/१७६; ज्ञाताधर्मकथांग, १/८२.

७. औपपातिक, सूत्र ५५ : ज्ञाताधर्मकथांग, १/८२.

८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, २/७.

निशीथचूर्णि में दासों के छः भेद बताये गये हैं—^१

गव्वा (जन्मजात दास)

कीता (क्रीत किये हुए दास)

अनया (ऋण न चुका सकने के कारण बनाये गये दास)

सवरहा (राजा द्वारा किसी विशेष अपराध के लिए
दण्ड स्वरूप बनाए गए दास)

गिरुद्ध (ऐसे दास जो युद्ध में पराजित बन्दी थे)

दुभिक्षा (ऐसे दास जो दुर्भिक्ष से संतुष्ट होकर बन गये थे) ॥

कौटिलीय अर्थशास्त्र में कई प्रकार के दासों का उल्लेख है—

ध्वजाहुत (युद्ध में बन्दी)

आत्मविक्रयी (अपने आप को बेचने वाले)

उदरदास (दासी से उत्पन्न)

अहितिक (ऋण के कारण दास वृत्ति अपनाने वाले)

दण्डप्राणित (राज दण्ड के कारण दासता स्वीकार करने वाले) ।^२

मनुस्मृति में ६ प्रकार के दासों का उल्लेख हुआ है—

ध्वजाहतो (युद्ध में जीता हुआ)

भतदासो (भोजन के लिए दास वृत्ति अपनाने वाला)

क्रीत (क्रीत)

दत्रिमौ (उपहार में प्राप्त)

पैत्रिको (जन्मजात) और

दण्ड दास (दण्डित होकर बना दास)^३

दासों के उपरिलिखित वर्गीकरण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दासकुल में जन्म, युद्ध में पराजय, दण्ड, धन का अभाव तथा दुर्भिक्ष दासता के मूल कारण थे। दास चूँकि निजी सम्पत्ति थे इसलिए इनका विक्रय, उपहार में देना तथा गिरवी रखना शास्त्र मान्य था। दासों को किसी प्रकार का वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं था। घर में उनके साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार किया जाता था, पर कभी-कभी दासों के

१. गव्हे कीते अणए, दुभिक्षे सावराहुरुद्ध वा—निशीथचूर्णि, भाग ३/३६७६

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र, ३/१३/५५

३. मनुस्मृति, ८/४१५

प्रति कठोर व्यवहार का भी उदाहरण मिलता है। बृहत्कल्पभाष्य के दृष्टान्त से ज्ञात होता है कि किसी एक वणिक् ने अपनी वृद्धा दासी को लकड़ी लाने हेतु जंगल भेजा, दोपहर को जब वह बिना लकड़ी लिए लौटी तो उसके स्वामी ने उसे पीटा और भूखी प्यासी दासी को पुनः लकड़ी लाने के लिए भेज दिया।^१ सूत्रकृतांग से ज्ञात होता है कि दास त्रस्त होकर घर से पलायित भी हो जाया करते थे।^२ निशीथचूर्ण से सूचना मिलती है कि कुछ स्वामी, दासियों का उपभोग भी कर लेते थे।^३ कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार अगर दासी को स्वामी से सन्तान हो जाती थी, तो वह दासता से मुक्त हो जाती थी।^४ अगर दास अपना मूल्य चुका दे, तो भी उसे दासता से मुक्ति मिल जाती थी।^५ कई बार स्वामी दास के कार्य से प्रसन्न होकर उसे दासता से मुक्त कर देते थे। राजा श्रेणिक ने पुत्र-जन्म का सुखद समाचार देने वाली दासी को दासता से मुक्त कर दिया था।^६ इसी प्रकार व्यवहारभाष्य से भी ज्ञात होता है कि एक कुटुम्बी ने अपनी दासी की सेवाओं से प्रसन्न होकर उसका मस्तक धोकर उसे दासता से मुक्त कर दिया था।^७

शिल्पी

प्राचीन जैन ग्रंथों से पता चलता है कि अपने शिल्प में सिद्धहस्त शिल्पियों का बाहुल्य था।^८ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में शिल्प जानने वाली १८ श्रेणियों का वर्णन है।^९ प्रज्ञापनासूत्र में भी विभिन्न शिल्पियों का उल्लेख हुआ है—दोस्सिया (दूषयक), सौत्तिया (सौत्रिक), कप्पासिया (कार्पासिक), सुत्तवेयलिया (सूत्रवैतालिक), भंडवेयलिया (भाण्डवैतालिक), कोलीलिया (कौलालिक), णरदावणिया (नरवाहमिक), तुण्णागा (रफूगर), तंतुवाया

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २/१२०५.

२. सूत्रकृतांग, भाग २/२/७१०.

३. निशीथचूर्ण, भाग ४/५/७८.

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र, ३/१३/६५.

५. वही.

६. मत्थयघोयाओ करेड, पुत्ताणु प्रत्तियं वित्ति कप्पेइ, कप्पेत्ता पडिविस त्तअ, ज्ञाताधर्मकथांग, १/७५.

७. व्यवहारभाष्य, भाग ६/२०८.

८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ३/१० प्रज्ञापना, १/१०५, १०६.

९. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ३/१०.

(जुलाहे), पहगारा (पटकार), देयड़ा (चमड़े की मशक बनाने वाले), वरणा (रस्सी बनाने वाले), छब्रिया (चटाई बनाने वाले), कट्ठपाउयारो (लकड़ी की पादुका बनाने वाले), छत्तारा (छाता बनाने वाले), बज्जारा वाहन बनाने वाले), लेप्पारा (लिपाई-पुताई करने वाले), चित्तारा (चित्रकार), संखारा (शंखकार), दंतारा (दंतकार), भंडारा (बर्तन बनाने वाले), सेलयारा (पाषाण पर काम करने वाले), कोडियारा (कौड़ियों की माला बनाने वाले)।^१

इनके अतिरिक्त औपपातिक में नट, नर्तक, रस्सी पर खेल करने वाले बाजीगर, मल्लयुद्ध करने वाले, मुष्टि-युद्ध करने वाले, विदूषक, भांड, कथा वाचक, रास गायक आदि पेशेवर कलाकारों का भी उल्लेख हुआ है जो लोगों का मनोरंजन करके अपनी आजीविका अर्जन करते थे।^२

श्रम विभाजन

एक ही व्यक्ति सभी कार्य कुशलता से नहीं कर सकता। अतः प्राचीनकाल से ही श्रम-विभाजन को महत्त्व दिया गया था। जैन परम्परा में श्रम विभाजन का आधार कर्म था^३ जबकि हिन्दू परंपरा में श्रम विभाजन का आधार जन्म था।^४ एक ही कार्य को बार-बार करते रहने से उसमें दक्षता आ जाती है। नंदीसूत्र में प्रसंगवश बताया गया है कि केवल सोने का ही काम करने वाला स्वर्णकार अपने व्यवसाय में इतना कुशल हो जाता है कि अंधकार होने पर भी स्पर्शमात्र से स्वर्ण और चांदी का अन्तर बता सकता है।^५ वैसे ही कुम्हार प्रतिदिन के अभ्यास से मिट्टी का उतना ही बड़ा पिण्ड उठाता है जितना भाण्ड विशेष के निर्माण के लिए अपेक्षित होता है।^६ बृहत्कल्पभाष्य में बताया गया है कि मोटा वस्त्र बनाने वाला जुलाहा बारम्बार अभ्यास के कारण सुन्दर पट्ट वस्त्र बनाने लगता है।^७ विशेष शिल्पों अथवा व्यवसायों में लगे हुए लोगों के अलग

१. प्रज्ञापना, १/१०५, १०६.

२. औपपातिक, १/२.

३. उतराध्ययन, २५/३३; पउमचरियं, २/१०३, ११५, ११७.

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १/३/१; मनुस्मृति, १/८९, ९०.

५. नंदीसूत्र, सूत्र ५३.

६. वही, सूत्र ७७.

७. बृहत्कल्पभाष्य, भाग १/२३१.

गाँव ही बस जाते थे यथा—वाणिज्यग्राम, निषादग्राम, कुम्हारग्राम, ब्राह्मणग्राम, क्षत्रियग्राम।^१ जातक ग्रंथों में तो ऐसे बड़ई और लोहार ग्रामों का वर्णन है जहाँ ५०० बड़ई और ५०० लोहार रहते थे।^२ जीविका की खोज में ये शिल्पी एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी चले जाते थे।

ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि मिथिला के दो स्वर्णकारों की श्रेणी वाराणसी में बस गई थी।^३ समुद्रवर्णिक जातक से भी पता चलता है कि ५०० बड़इयों के परिवार आजीविका की खोज में अन्यत्र चले गये थे।^४ इसी प्रकार कुमारगुप्त के प्रस्तर अभिलेख के अनुसार लाट में बसे पट्टवायों की श्रेणी दशपुर नगर में जाकर विविध व्यवसाय करने लगी थी।^५ बृहत्कल्पभाष्य में भी आजीविका की खोज में भ्रमण करने वाले 'औदारिक सार्थ' का उल्लेख है।^६ प्राचीन काल में बेकारी जैसी समस्या नहीं दिखती। कृषि, उद्योग और व्यापार इतने विकसित थे कि वह अधिक से अधिक लोगों को रोजगार देने में सक्षम थे।

पूँजी

उत्पादन में पूँजी का महत्त्व

धनार्जन का तीसरा महत्त्वपूर्ण साधन पूँजी है। आज भी उद्योग और व्यवसाय की समृद्धि हेतु प्रचुर पूँजी उपलब्ध होना आवश्यक है। प्रश्नव्याकरण से ज्ञात होता है कि क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन-धान्य, द्विपद, चतुष्पद, दास-दासी, कुप्य, (गृह सम्बन्धी उपकरण), धातु आदि सब मनुष्य की सम्पत्ति माने जाते थे।^७ उपासकदशांग में गाथापति आनन्द की सम्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसके पास १२

१. उपासकदशांग १/४; विपाकसूत्र, ८/६; भगवतीसूत्र ९/३३/१, २४; ११/१११.

२. सूची जातक, समुद्रवर्णिक जातक—आनन्द कौसल्यायन, जातक कथा, भाग ४, पृ० ३५८, भाग ३, पृ० ४३४.

३. ज्ञाताधर्मकथांग, ८/११७.

४. समुद्रवर्णिक जातक आनन्द कौसल्यायन—जातक कथा, भाग ४, पृ० ३५८.

५. कुमारगुप्त प्रथम तथा बन्धुवर्मन का मन्दसौर अभिलेख : ए० के० नारायणः प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह ९, पृ० १२३.

६. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गा० ३०३६.

७. प्रश्नव्याकरण सूत्र १०/३, उत्तराध्ययन ३/१७.

देखिए—अध्याय २ : दास-दासियाँ

करोड़ सुवर्ण मुद्रायें थीं जिनमें चार करोड़ कोश में संचित थीं, चार करोड़ वाणिज्य में लगी थी और ४ करोड़ घर तथा तत्सम्बन्धो उपकरणों में लगी थी। उसके पास ४००० पशु थे, ५०० शकट यात्रा के लिये और ५०० माल ढोने के लिये थे। चार यात्री और माल वाहक जलयान थे। उसके पास ५०० हल प्रमाण भूमि थी।^१ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी धान्य, पशु, हिरण, सुवर्ण, कुप्य तथा श्रमिकों को संपत्ति कहा गया है।^२ पूँजी के आधार पर धनवान् लोगों का वर्गीकरण किया जाता था। जिसके पास हस्ति-प्रमाण, मणि, मुक्ता, प्रवाल, सुवर्ण, रजत आदि द्रव्य हों उसे “जघन्य इभ्य” कहा जाता था और जिसके पास हस्ति-प्रमाण, वज्र, हीरे, मणि, माणिक्य हों उसे “मध्यम इभ्य” और जिसके पास हस्ति-प्रमाण केवल वज्र हीरों की राशि हो उसे “उत्कृष्ट इभ्य” कहा जाता था।^३

अर्थशास्त्र की परिभाषा में सब प्रकार की सम्पत्ति को पूँजी नहीं माना जाता। वही सम्पत्ति जो उत्पादन के लिए प्रयुक्त हो, पूँजी कही जाती है। जैन ग्रंथों में ऐसे कई सन्दर्भ आये हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उत्पादन के लिए पूँजी का व्यवहार होता था। उपासकदशांग में ऐसे १० गाथापतियों का वर्णन है जो व्याज पर ऋण देते थे। तुंगिका नगरी के श्रमणोपासक वृद्धि के लिये धन को (व्याज पर) देते थे।^४

स्त्रियाँ भी लेन-देन का कार्य करती थी। काकंदी नगरी की भद्रा सार्थवाही न्यायपूर्वक आजीविका करने वालों को ऋण देती थी।^५ अष्टा-

१. चत्तारि हिरणकोडीओ निहाणपउत्ताओ, चत्तारि हिरण-कोडीओ वुड्ढिपउ-
ताओ चत्तारि हिरण-कोडीओ पवित्थपउत्ताओ, चत्तारि वव्या दसगोसाहस्सि-
एणं, पंचहिं हलसएहिं गियत्तणसइएणं हलेणं, पंचहिं सगडसएहिं दिसायत्तिएहिं
पंचहिं सगडसएहिं, संवाहणिएहिं, चउहिं वाहणेहिं संवाहणिएहिं। चउहिं
वाहणेहिं दिसायत्तिएहिं उपासकदशांग, १/२-२८.

२. धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदान-कौटिलीय अर्थशास्त्र, १/४/१.

३. अन्तकृतदशांग, १/५.

४. भगवतीसूत्र, सूत्र २/५/११ (तुंगिका नगरी की स्थिति राजगिरि के आस-
पास मानी जाती है)।

५. अनुत्तरोपपातिक दशा, ३/१/१० (काकंदी नगरी इसकी स्थिति बिहार के
मुंगेर जिले में मानी जाती है। डी० सी० सरकार : स्टडीज इन ज्योग्राफी
आफ एन्शियेंट इण्डिया, पृ० २५४.

ध्यायी में पूँजी को 'वस्न' कहा गया है। जो व्यापारी स्वयं क्रय-विक्रय न करके केवल अपनी पूँजी लगाकर लाभ प्राप्त करते थे उन्हें वस्निक कहा गया है।^१

बचत

उत्पादन के लिए पूँजी के महत्त्व को पहचाना गया था। सोमदेव के अनुसार द्रव्य से ही द्रव्य का उपार्जन होता है। पूँजी के माध्यम से अधिक धन का उपार्जन किया जा सकता है।^२ पूँजी के महत्त्व को स्वीकारते हुए जैनग्रन्थों में तीन प्रकार से पूँजी प्राप्त करने के उल्लेख आये हैं—

(१) कृषि अथवा व्यापार द्वारा नवीन धन की प्राप्ति,

(२) बचत द्वारा एकत्रित की हुई पूँजी,

(३) पैतृक धन जिसे पिता-पितामह छोड़ गये हों।^३

मनुस्मृति में भी पूर्वजों की सम्पत्ति, व्यापार से अर्जित सम्पत्ति, जीत कर प्राप्त की हुई, व्याज द्वारा अर्जित की हुई, कृषि और दान द्वारा प्राप्त की हुई सम्पत्ति को धर्ममान्य कहा गया है।^४

सोमदेवसूरि मनुष्य को अपनी आय का चौथाई भाग पूँजी वृद्धि हेतु निर्धारित करने, चौथाई व्यापार हेतु, चौथाई उपभोग के लिए और चौथाई भाग अपने आश्रितों के भरण-पोषण में व्यय करने का परामर्श देते हैं।^५ नीतिवाक्यामृत में मनुष्य को नियमित रूप से कुछ धन जमा करते रहने की सलाह दी गई है। संचित राशि कुछ समय पश्चात् एक बृहद् राशि के रूप में एकत्रित हो जाती है।^६ अपने पिता-पितामह द्वारा अर्जित धन में वृद्धि करने वाला पुरुष उत्तम माना जाता था, इसमें ह्रास करने वाला मध्यम माना जाता था और जो उपभोग में ही

१. पाणिनि अष्टाध्यायी, ५/१/१५६.

२. अर्थनार्थोपार्जनम् सूरि सोमदेव, नीतिवाक्यामृत, २९/९७

३. वही, २९/१०५.

४. मनुस्मृति, १०/११५.

५. पादमाया नीवि कृपांत्वाद वित्ताय कल्पयते धर्मापभोगयो पादं पादं भर्तव्य पोषणैः—सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, ७/१०४।

६. कालेन संचयिमानः परमाणुरपि जायते मेरुः—नीतिवाक्यामृत, १/३१।

सारा धन नष्ट कर देता था वह अधम माना जाता था ।^१ कौटिल्य ने भी मूलपूँजी व्यय करने वाले को 'मूलहर' नाम दिया है तथा ऐसे व्यक्ति को जो जितना अर्जित करे उतना ही व्यय करे 'तादत्कि' कहा है और जो भृत्य आदि को पीड़ा देखकर धन इकट्ठा करे उसे 'कदर्प' कहा है ।^२ इससे स्पष्ट होता है कि मौर्यकाल और गुप्तकाल दोनों में ही न्याय से पूँजी अर्जित करने पर बल दिया गया था ।

प्रायः यह धारणा है कि धार्मिक विचारों के कारण जैनधर्म में संग्रह-प्रवृत्ति पर अंकुश था । आवश्यकता से अधिक धन संग्रह करना अच्छा नहीं माना जाता था । लोग धन को उत्पादन में लगाने की अपेक्षा परोपकार और धार्मिक कृत्यों में लगाना अच्छा मानते थे, इसलिए उद्योगों के लिए पूँजी का अभाव था, परन्तु यह धारणा सत्य नहीं है । **उपासकदशांग** में महावीर के पास आनन्द, महाशतक, चूलनीपिता, सकडालपुत्र और कामदेव जैसे करोड़पति गाथापतियों के आने का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय भी धन-संग्रह की प्रवृत्ति विद्यमान थी । उन्होंने श्रावक-धर्म ग्रहण करते समय भी सम्पूर्ण सम्पत्ति का त्याग नहीं किया था, परन्तु उसको मर्यादा निश्चित की थी और उत्पादन हेतु पर्याप्त धन पर अपना स्वामित्व बनाये रखा था ।^३ यद्यपि साधु जीवन के लिए पूर्ण धन का त्याग आवश्यक था परन्तु गृहस्थ जीवन में न्याय-नीति से अर्जन किया हुआ धन बुरा नहीं माना जाता था ।

आचारांग से ज्ञात होता है कि मनुष्य अपने भविष्य की सुरक्षा, सन्तान के पालन-पोषण और अपने सामाजिक दायित्व निभाने के लिए धन संचय करता था ।^४ परन्तु उसे उत्पादन में नियोजित करने की अपेक्षा उसे सुरक्षित रखने हेतु भूमि के नीचे छिपा देते थे । स्थूलभद्र आचार्य के पूर्वजन्म के मित्र के घर उसके पूर्वजों के द्वारा एक स्तम्भ के नीचे गड़ा

१. तत्थ अत्थे उतमो जा पिउ-नियामहुज्जियं अत्थंपरिभुजंतो वड्ढावेइ, जो ण परिहावेइ सो मज्झिमो, जो खावेइ सो अधमो—संघदासगणि, वसुदेव-हिण्डी, भाग १ पृ० १०१ ।

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १/९/२७ ।

३. उपासकदशांग, १/२-१० ।

४. आचारांग १/२/४/८४ ।

हुआ रत्नों का कलश मिला था।^१ **आचारांग** में उल्लेख है कि मनुष्य दास-दासी और पशुओं की सहायता से इतना द्रव्य उपार्जन कर लेते थे जो भोगोपरान्त भी पर्याप्त मात्रा में बच जाता था और वही बचत पूँजी के रूप में प्रयुक्त होती थी।^२ उस समय मौर्यकाल की ऐतिहासिक राज-नीतिक एकता और तत्पश्चात् आन्तरिक एवं बाह्य व्यापारिक प्रगति से पूँजी में अत्यधिक वृद्धि हुई थी।

लेन-देन का कार्य करने वाली संस्थायें

ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में आज के समान बैंक नहीं थे और न ही कोई ऐसी राजकीय संस्था थी जो व्यापारी और उद्योगकर्मियों को ऋण दे सके। ऋण देने का कार्य वैयक्तिक व्यवसाय के रूप में प्रचलित था। बड़े-बड़े सारथवाह, गाथापति, निगम श्रेणियाँ और औद्योगिक संस्थायें व्याज पर पूँजी देती थीं। ये संस्थायें आधुनिक बैंकों की भूमिका निभाती थी। व्यापारियों की ऐसी संस्थाओं को जिनके अपने निश्चित कानून थे 'निगम' कहा जाता था। **निशीथचूर्णि** से ज्ञात होता है कि निगम और संवाह में रेहन, बट्टे का काम होता था।^३ व्यापारिक संगठन और श्रेणियाँ अपने व्यवसाय से उपार्जित धन को आर्थिक योजनाओं के उत्पादन तथा वितरण में लगाती थीं। इन संस्थाओं का नगर की प्रमुख मंडियों, लेनदेन एवं उद्योगों पर अनुशासन था। ये श्रेणियाँ वैभवपूर्ण तथा जनता की विश्वासपात्र होती थीं। ऐसी संस्थायें व्यक्तियों, व्यापारियों के सुरक्षित धन पर व्याज देती थीं और उसी धन को पुनः व्याज पर देकर उत्पादन को बढ़ाती थीं। इन श्रेणियों की इतनी साख थी कि राजा भी कभी-कभी अपना धन इन श्रेणियों में जमा करते थे। नासिक के १२० ई० के लयन-लेख के अनुसार शकराज नहंपान के दामाद उषवदत्त ने जुलाहों की श्रेणी में २००० कार्षापण (प्राचीनकाल का प्रचलित सिक्का) जमा किये थे और दूसरी श्रेणी में १००० कार्षापण, जिसका व्याज क्रमशः १ प्रतिशत मासिक और ३/४ प्रतिशत मासिक था।^४ दूसरी शताब्दी के हुविष्क के मथुरा

१. उत्तराव्ययनचूर्णि, भाग २ पृ० १२२, १३०।

२. आचारांग, १/२/३/८१।

३. अणुवट्टवितेण सह एगट्ठं संवासो, निशीथचूर्णि, भाग ३/३७६३।

४. नहंपान का नासिक गुहालेख, पक्ति २/३ : नारायण ए० के० : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह २, पृ० ३३।

प्रस्तर लेख के अनुसार एक धार्मिक व्यक्ति ने ५६० कार्षापण की दो धन राशियाँ स्थायी मूलधन के रूप में जमा करवाई जिसके व्याज से ब्राह्मणों और दीन-दुखियों को भोजन मिलता था ।^१ वसुदेवहिण्डो के अनुसार मुरेन्द्रदत्त ने विदेश जाते समय ३ करोड़ का धन अपने मित्र रुद्रदत्त के पास सुरक्षित रख दिया था और उससे आने वाले व्याज का धन जिनायतन में पूजा और भोग के लिए निश्चित कर दिया था ।^२

उत्पादन के लिए प्रयुक्त होने वाले ऋणों का जैन साहित्य में स्पष्ट विवरण नहीं मिलता । पाणिनि ने ऋतुओं के अनुसार देय ऋण का वर्णन किया है ।^३ जिससे प्रतीत होता है कि यह ऋण कृषि की आवश्यकता को देखते हुए दिये जाते थे ।

परिचित तथा जिनके पास गृह, भूमि आदि अचल सम्पत्ति हो उन्हीं लोगों के साथ ऋण व्यवहार किया जाता था ।^४ दशवैकालिक से ज्ञात होता है कि लोग परोपकार के लिए भी धन का सदुपयोग करते थे । देश में धर्मार्थ संस्थाएँ बहुत थीं जो धनेच्छुकों की सहायता करती थीं ।^५ इस प्रकार जनकल्याण और उत्पादन दोनों के लिए ही पूँजी एक आवश्यक साधन थी ।

सम्पत्ति के अर्जन, उपभोग, रक्षक हेतु व्यक्ति स्वतंत्र था । प्रत्यक्ष रूप से यद्यपि समाज और राज्य का उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं था, परोक्ष-रूप में धार्मिक नियम उसे प्रेरित करते थे कि वह अपनी सम्पत्ति का परिशीमन करके अतिरिक्त धन को लोक कल्याण में लगाये ।^६ इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन परम्परा का सम्पत्ति-सिद्धान्त न तो पूँजीवादी स्वतन्त्र निरपेक्षता का सिद्धान्त था और न ही समाजवादी व्यापक प्रतिबन्ध का ही सिद्धान्त था । न्यायोचित साधनों से अपनी अर्जित की हुई सम्पत्ति का व्यक्ति स्वेच्छानुसार उपभोग कर सकता था या संचित कर सकता था । इस प्रकार वह पूँजीवादी और समाजवादी दोनों सिद्धान्तों के दोषों तथा गुणों का समन्वय कर एक समृद्ध आर्थिक व्यवस्था को सूचित करता था ।

१. हुविष्क का मथुरा प्रस्तर लेख, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह २, पृ० २४ ।

२. संघदासगणि, वसुदेवहिण्डो, भाग १/११२ ।

३. अष्टाध्यायी, ४/३/४९.

४. निश्चयैः परिवर्तैश्च सह व्यवहारो वर्णिजां निधिः—नोतिवाक्यामृतम्, ७/४०.

५. दशवैकालिक ३/३.

६. उपासकदशांग, १/२८.

प्रबन्ध

उत्पादन में प्रबन्धक का महत्त्व

उत्पादन का चौथा साधन प्रबन्ध है। प्रबन्ध का अर्थ है उत्पत्ति के विभिन्न साधन—भूमि, श्रम और पूँजी का उचित समन्वय कर अल्पतम व्यय में अधिकतम उत्पादन करके लाभ अर्जित करना। विभिन्न साधनों में समन्वय स्थापित कर व्यापार और उद्योग की नीतियाँ निर्धारित करना और उनको कार्यान्वित करके पर्याप्त लाभ प्राप्त करना ही प्रबन्धकर्ता का मुख्य उद्देश्य होता है।

आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में उत्पादन के लिए प्रबन्धक की आवश्यकता होती है। कार्य की सुव्यवस्थित योजना बनाना, पर्याप्त मात्रा में उत्पत्ति के साधन जुटाना, उत्पत्ति की मात्रा निर्धारित करना, निर्मित वस्तु की विक्रय-व्यवस्था करना, अनुसंधान द्वारा उत्पत्ति के तथा सस्ते पदार्थों की खोज करना उसका दायित्व था।

प्रबन्ध प्रस्तुतकर्ता

सार्थवाह, श्रेष्ठ, गाथापति, निगम और श्रेणियाँ प्रबन्ध प्रस्तुत करती थीं। उचित प्रबन्ध के बिना व्यापार और उद्योग उन्नति नहीं कर सकते। व्यवहारभाष्य में दो भाइयों की कथा आती है जिन्होंने धन का समान विभाजन किया था। एक ने अपनी सूझबूझ, बुद्धिमत्ता और अच्छे प्रबन्ध से प्रभूत धन अर्जित किया, इसके विपरीत व्यापारिक सूझबूझ के अभाव में और पूर्णतया नौकरों पर निर्भर होने के कारण दूसरे का सारा व्यापार नष्ट हो गया।^१ आचारांग में कहा गया है कि अच्छा व्यापारी लाभ की आकांक्षा रखता हुआ वाणिज्य में साहस करने को तैयार रहता था।^२ एक कुशल व्यापारी अपनी दूरदर्शिता और सूझबूझ से इस बात का निर्णय करता था कि किस वस्तु का क्रय किया जाय और किसका विक्रय किया जाय, किसका संग्रह किया जाये, जिससे भविष्य में प्रचुर लाभ हो। वे नई-नई मंडियाँ ढूँढते ? जहाँ उनके माल की खपत हो।^३ व्यापारी लाभ और हानि को अच्छी तरह जानते

१ व्यवहारभाष्य, ४/५३.

२. आचारांग, १/२/१।६७ (अकडं करिस्सामिति) .

३. लाभान्विगो परदेसं अगतुंकागस्स वरस से लाभो भविस्सति त्ति गमणं करोति इमं दव्वं कीणहि इमं विक्कणीहि, कम्ममरंभवो सण्णित्ताहि इमम्मि-कमारमे पयट्टसु एवं ते लाभ । भविस्सति-निशीथचूणि, ३/२६९१, ४३६२

हुए साहस करने को तैयार रहते और सदा वही कार्य करने का प्रयत्न करते जिनसे उनको प्रचुर लाभ हो ।^१ उत्तम व्यापारी शुल्क, यात्रा कर, कर्मकरों का पारिश्रमिक आदि देकर यदि लाभ देखते तभी वे उस व्यापार की चेष्टा करते और यदि लाभ की आशा न होती तो उस वस्तु में व्यापार नहीं करते ।^२ कौटिल्य के अनुसार भी व्यापारी अपने पण्यद्रव्यों का मूल्य, शुल्क, वर्तनी देय (सड़क कर) गुल्मदेय, (अन्य पुलिस का देय था), भाटक (वाहन का किराया), भक्त (भोजन), तरदेय (घाटकर) आदि कर देकर जो लाभ वचता है उसका सोच विचार कर जिस मार्ग से उन्हें पर्याप्त लाभ हो उसी मार्ग का अनुसरण करते थे ।^३ व्यापारी अपने मूलधन की सुरक्षा करते और हानि की आशंका वाले द्रव्य को नहीं खरीदते ।^४ राजप्रश्नीयसूत्र में ऐसे व्यापारियों की कथा है जिन्होंने अपनी सूझबूझ से प्रचुर धन अर्जित किया था और एक मूर्ख का भी वृत्तान्त है जिस ने अपनी मूर्खता से पूर्व संचित धन को खो दिया था । एक बार कुछ व्यापारियों ने पर्याप्त मात्रा में वस्तु लेकर धन प्राप्ति हेतु प्रस्थान किया । मार्ग में एक विशाल जंगल में उन्होंने लोहे की खानें देखीं सबने लौह ग्रहण किया और आगे बढ़े कुछ दूर चलने पर उन्होंने त्रपु (रांगा) की खानें देखीं । रांगा चूँकि लोहे से अधिक मूल्यवान था, अतः उन्होंने लौह को छोड़ दिया और रांगे को ही ले लिया लेकिन एक मूर्ख व्यापारी ने यह कह कर रांगा छोड़ दिया कि उसे जो पहले मिला है वह उसी से सन्तुष्ट है । ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते गये क्रमशः ताम्र, रूप्य, सुवर्ण और रत्न की खानें मिलीं । बुद्धिमान् व्यापारी अल्प मूल्य वाली वस्तुओं का त्याग कर मूल्यवान वस्तु लेकर आगे बढ़ते गये फिर अपने-अपने जनपद में पहुँचकर उन्होंने उन मूल्यवान वस्तुओं का विक्रय कर बहुत धन प्राप्त किया । लेकिन वह व्यापारी जो केवल लोहा ही लाया था अधिक धन

१. बृहत्कल्पभाष्य, ४/४३५०.

२. जहा वणितो देसंतर भंडं णेडकामो जइ सुकंसद्धो आदिसद्धातो, भांडगकम्भ-करवितीए परिमुद्धाए जति लाभस्स सती तो वणितो वाणेज्ज चेद्धं आरभति, अहलाभो न भवति तो न आरभति—निशीथचूर्णि ३/४८११.

३. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/१६/२२ (अधि.).

४. जहां लाभत्थी वणिओ मूलं जेण तुट्ठति तारिसं पण्णं णो किणाति जत्थ लाभं पेच्छति तं किणाति ।
—निशीथचूर्णि, ३/३५३२.

प्राप्त न कर सका।^१ सारांश यह है कि व्यापारिक सूझबूझ से अधिक धन की प्राप्ति की जा सकती है। यद्यपि उद्योग और व्यापार आज की भाँति विकसित नहीं थे। प्रायः प्रबन्धकर्ता वही व्यक्ति होता था जिसकी अपनी भूमि और अपनी पूँजी होती थी और उसके स्वयं के श्रम से ही उत्पादन होता था। ऐसी स्थिति में लाभ-हानि का उत्तरदायी भी वह स्वयं ही होता था। किन्तु उपासकदशांग में कुछ ऐसे उल्लेख आये हैं जिनमें प्रबन्धक का महत्त्व स्पष्ट होता है। आनन्दगाथापति की विस्तृत कृषि और लेन-देन तथा सकडालपुत्र के विस्तृत भाण्ड उद्योग के लिये कुशल प्रबन्धक का विशेष महत्त्व था।^२ कुछ व्यक्ति अपने किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ निश्चित नियमों के अन्तर्गत अधिकतम लाभ हेतु संयुक्त रूप से व्यापार करते थे। संयुक्त रूप से काम करने वालों के मध्य एक अनुबन्ध होता था, जिसमें व्यापारिक प्रबन्ध के सामान्य सिद्धान्तों को स्पष्ट किया जाता था। प्रत्येक सदस्य सम्मिलित कोश में अपना-अपना अंश प्रदान करता था और अन्ततः पूँजी के अनुपात में उनके मध्य लाभ-वितरण कर दिया जाता था।

निशीथचूर्णि में पाँच वणिकों का कथानक आता है, जिन्होंने समान पूँजी लगाकर व्यापार आरम्भ किया था, बाद में अलग होते समय उन्होंने पूर्व निवेशित अंश के अनुसार ही आपस में धन विभक्त कर लिया था।^३

वमुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि कंचणपुर के दो व्यापारी रत्न खरीदने के लिए समान मात्रा में धन लेकर सिंहद्वीप गये थे।^४ जातक कथाओं में भी ऐसे व्यापारियों का वर्णन मिलता है जो सम्मिलित व्यापार करते थे।^५ अधिक लाभ के लिए व्यापारी परस्पर संयुक्त हो जाया करते थे, जिससे वे एक दूसरे के अनुभवों का लाभ उठा सकें। इस प्रकार के प्रबन्ध का अधिकाधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करते रहते थे।



१. राजप्रश्नीय, सूत्र ७४

२. उपासकदशांग, १/२८, ७/६.

३. पंचवणिया समभाग समाइत्ता ववहरंति

सव्वम्मि विभत्ते खरा विभयामो त्ति।

—निशीथचूर्णि, भाग ४, गा० ६४०४.

४. वमुदेवहिण्डी, भाग १ पृ० १११ (कंचणपुर उड़ीसा का एक प्रमुख नगर था)।

५. कूटवणिक जातक, जातक कथा—आनन्द कौसल्यायन, भाग २ पृ० ५२९.

तृतीय अध्याय कृषि और पशुपालन

उत्पादन का महत्व

सामान्यतः किसी वस्तु अथवा पदार्थ का निर्माण उत्पत्ति कहा जाता है परन्तु अर्थशास्त्रीय शब्दावली में उपयोगी आर्थिक वस्तुओं का उत्पादन ही उत्पत्ति है। आवश्यकताओं की पूर्ति तथा आर्थिक समृद्धि उत्पादन पर निर्भर करती है। जिस देश में उत्पादन बृहदस्तर पर होता है वह देश आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली हो जाता है। अधिक उत्पादन से देश के वाणिज्य और व्यापार में उन्नति होती है। जैन ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि आगमिक काल में उत्पादन में वृद्धि करने वाले विविध व्यवसायों का विकास हो चुका था।

उत्पादक व्यवसाय

जैन पौराणिक परम्परा के अनुसार ऋषभदेव का काल सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था का काल था। प्रारम्भिक युग में मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं पर ही निर्भर था। लोग प्रकृति प्रदत्त कन्दमूल, फल-फूल तथा जंगलों में उत्पन्न धान्यों को ही खाया करते थे।^१ लेकिन जब प्राकृतिक उत्पादन कम होने लगा और प्रजा में संघर्ष बढ़ने लगा तो आदि-तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने उत्पादन में वृद्धि हेतु अपनी प्रजा को १०० प्रकार के शिल्प सिखाये।^२

प्रश्नव्याकरण से ज्ञात होता है कि असि, मसि, कृषि, वाणिज्य और शिल्प आजीविका के साधन थे।^३ दशवैकालिकचूर्णि में उल्लेख है कि चाणक्य ने अर्थोपार्जन के विविध साधन निर्दिष्ट किये थे।^४

आदिपुराण के अनुसार ऋषभदेव ने प्रजा हेतु आजीविका के छः साधन बताये थे :—^५

१. आवश्यकचूर्णि, भाग १ पृ० ५५.

२. कल्पसूत्र १९६; आवश्यकचूर्णि, भाग १ पृ० १५६.

३. सिप्रसेवं, अमि-मसि किसि-वाणिज्जं, ववहारं, अत्यसत्यईसत्यच्छहृष्यगयं।

—प्रश्नव्याकरण ५/५

४. दशवैकालिकचूर्णि, पृ० १०२

५. असिमंषिः कृषिविद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च। कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजा-जीवनहेतवः॥
आदिपुराण १६/१७९

१. असिकर्म : अस्त्र-शस्त्र द्वारा जीविकोपार्जन असिकर्म कहा जाता था।
२. मसिकर्म : प्रशासन के क्षेत्र में लेखक या गणक का काम करके जीविकोपार्जन मसिकर्म कहा जाता था।
३. कृषिकर्म : भूमि जोतना, बोना, सिंचाई करना, फसल काटना और धान्य का संग्रह कर जीविकोपार्जन करना कृषिकर्म कहलाता था।
४. विद्या : अध्ययन एवं पठन-पाठन भी जीविकोपार्जन का साधन था।
५. वाणिज्य : वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर आजीविकोपार्जन करना व्यापार कहा जाता था।
६. शिल्प : विविध शिल्प भी जीविकोपार्जन के साधन बताये गये हैं।

मनुष्य की उपार्जन पद्धति उसकी वृत्ति को बहुत अधिक प्रभावित करती है। इसलिए इस बात का ध्यान रखा जाता था कि मनुष्य की उत्पादन पद्धति ऐसी हो जिससे मनुष्य की मनुष्यता का विकास हो। अनेक व्यवसाय आर्थिक दृष्टि से लाभदायक होने पर भी नैतिक दृष्टि से हेय होने के कारण त्याज्य थे। **उपासकदशांगसूत्र** और **आवश्यकचूर्णि** में इस प्रकार के १५ वर्जित व्यवसायों का उल्लेख है :^१—

१. इंगालकम्मे (अंगार कर्म) लकड़ी के कोयले बनाना; कुछ टीकाकारों ने ईंट पकाने आदि भट्टियों से सम्बन्धित व्यवसायों को भी इसमें सम्मिलित किया है। किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि महावीर का प्रमुख श्रावक सकडालपुत्र ऐसा व्यवसाय करता था। कुछ अन्य टीकाकार इसका अर्थ वनों में आग लगाकर कृषि-भूमि प्राप्त करना, करते हैं।^२ यह अर्थ उचित प्रतीत होता है क्योंकि ऐसा करने में वानस्पतिक जीवों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों की भी हिंसा होती है।
२. वणकम्मे (वनकर्म)—जंगल काटने का व्यवसाय, आचार्य हेमचन्द्र ने **योगशास्त्र** में बगीचे लगाकर शाक-सब्जी के व्यवसाय को भी इसमें सम्मिलित किया है।^३

१. उपासकदशांग १/३८; आवश्यकचूर्णि, भाग २ पृ० २९६.

२. द्रष्टव्य—उपासकदशांग पर अभयदेव की वृत्ति १/४७.

३. हेमचन्द्र—योगशास्त्र ३/१०२.

३६ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

३. भाडीकम्मे (भाटकर्म) : पशुओं को किराये पर देना ।
४. साडी कम्मे (शकटकर्म)—यानों, वाहनों का निर्माण । कुछ आचार्य इसका अर्थ वस्तुओं को सड़ाकर उनसे मादक पेय बनाना, करते हैं ।
५. फोडी कम्मे (स्फोटकर्म)—खान खोदने और पत्थर तोड़ने का कार्य ।
६. दंतवाणिज्जे (दंत वाणिज्य)—हाथी दाँत का उद्योग । उपलक्षण से चमड़े और हड्डी के व्यवसाय को भी इसमें सम्मिलित किया गया है ।
७. लखवाणिज्जे (लाख वाणिज्य) : लाख उद्योग ।
८. केस वाणिज्जे (केश वाणिज्य)—चमरी गाय, भेड़ आदि के बालों का उद्योग ।
९. रस-वाणिज्जे (रस वाणिज्य)—मद्य का निर्माण ।
१०. विस वाणिज्जे (विष वाणिज्य)—विष निर्माण ।
११. जंतपीलणकम्मे (यंत्रपीड़न कर्म)— घाणि (कोल्टुओं) आदि का व्यवसाय ।
१२. निलंछणकम्मे (नपुंसककर्म)—बैल आदि को बधिया बनाना ।
१३. दावाग्निदावणया (दावाग्नि दावण)—जंगल में आग लगाना ।
१४. सरदहतलागपरिसोसणया (सर, हृद, तड़ाग परिशोषण)—सरोवर एवं तालाब आदि को सुखाना ।
१५. असईजनपोसणाय : (दुराचारी लोगों का पोषण)—व्यभिचार आदि के लिए वेश्यालय चलाना ।

जैन धर्म में अहिंसा की प्रधानता होने से उपरोक्त व्यवसाय वर्जित थे, क्योंकि इनमें किसी न किसी प्रकार से हिंसा होती थी। वे ही व्यवसाय उत्तम माने जाते थे जो हिंसा और शोषण से रहित, मनुष्य के परिश्रम पर आधारित हों ।

जैनाचार्य उद्योतनसूरि ने **कुवलयमालाकहा** में धनार्जन के प्रशस्त एवं अप्रशस्त साधनों का उल्लेख किया है। इनमें देशान्तर यात्रा, साक्षीदार बनाना, राजा की सेवा, धातुवाद, सुवर्णसिद्धि, मंत्र-साधना, देव-आराधना, समुद्र पार करना, पर्वतारोहण, पर्वत खनन करना, व्यवसाय करना आदि धनार्जन के प्रशस्त उपाय माने गये हैं। धनार्जन के इन प्रशस्त साधनों के अतिरिक्त कुछ अप्रशस्त साधन भी थे, जो समाज

को मान्य नहीं थे । जैसे जुआ खेलना, सेंध लगाना, (चोरी करना), राह-गीरों को लूटना, मायाजाल करना ।^१

महात्मा बुद्ध ने भी जीविकोपार्जन के साधनों की शुद्धता को आवश्यक माना है । अंगुत्तरनिकाय के अनुसार पांच व्यापार उपासक के लिये अकरणीय थे—(१) सत्थवणिज्जा (शस्त्रों का व्यापार), (२) सत्त्वणिज्जा (प्राणियों का व्यापार), (३) मंसवणिज्जा (मांस का व्यापार), (४) मज्जवणिज्जा (मद्य का व्यापार), (५) विस वणिज्जा (विष का व्यापार)^२ । जातक में ऐसे दस व्यवसायों का उल्लेख हुआ है जो विपत्ति के समय ब्राह्मण कर सकते थे, जैसे चिकित्सा, सेवा, गाड़ी हाँकना, पथ प्रदर्शक बनना और राजा की नौकरी करना ।^३ मनुस्मृति में भी विद्या, शिल्प, भृति, सेवा, गोरक्षा, व्यापार, पशुपालन, चिकित्सा, भिक्षा तथा व्याज, धनार्जन के साधन बताये गये हैं ।^४ याज्ञवल्क्यस्मृति में भी आपत्ति-काल में ब्राह्मण की आजीविका के लिये कृषि, शिल्प, भृति, अध्यापन, व्याज पर धन देना, भाड़े पर गाड़ी चलाना, पर्वत से तृण (लकड़ी) इकट्ठी करके आजीविका उपार्जन करना, राजा की सेवा करना, राजा से याचना तथा भिक्षावृत्ति का उल्लेख है ।^५ याज्ञवल्क्य ने वैश्य के लिये व्याज, कृषि, वाणिज्य और पशुपालन कर्म बताये हैं ।^६ शुक्रनीति में पठन-पाठन करके धनार्जन करना, राजा की सेवा करना, सेना में प्रविष्ट होना, कृषि करना, कृण देना, शिल्प और व्यवसाय करना, भिक्षा मांगना आदि

-
१. दिसिगमणं होइ मित्तकरणं च । णरवर-सेवा कुसलतणं च माणप्पमाणेसुं धाउ-
व्वाओ मंतं च देवयाराहणं च केसिं च सायर-तरणं तह रोहणम्मि खणणं
वणिज्जं णाणाविहचकम्मं, विज्जा, सिप्पाइं च ।

—कुवलयमालाकहा, पृ० ५७.

२. अंगुत्तरनिकाय, भाग २ पृ० ४०१
३. ब्राह्मण जातक-आनन्द कौसल्यायन, जातक कथा, भाग ४ पृ० ५६९ ।
४. “विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्षयं विपणिः कृषिः धृतिभैक्ष्यं कुशीदं च दश
जीवनहेतवः” मनुस्मृति १०/११६.
५. “कृषि, शिल्पं, भृति, विद्या कुशीदं शकटं गिरिः सेवानूपं नृपो भैक्ष्यापत्तौ
जीवनानि च ।”

—याज्ञवल्क्यस्मृति प्रायश्चित्ताध्याय सूत्र ४२

६. वही, आचाराध्यायः सूत्र ५३.

३८ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

धनार्जन के साधन बताये गये हैं।^१ जैन ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि आज से २००० वर्ष पहले आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि और पशुपालन ही था।

कृषि

कृषि मानव जीवन का आधार है। इससे मनुष्यों तथा पशुओं के लिए भोजन तथा उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त होता है। इसी कारण प्राचीनकाल से ही कृषि का उत्पादन में सर्वाधिक महत्त्व रहा है। प्राचीन जैन साहित्य में भी कृषि को आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अहिंसा प्रधान जैन धर्म में कृषि कर्म निन्द्य नहीं है। खेती करने वाले श्रेष्ठ ही माने जाते थे।^२ जैन श्रावक संकल्पोहिंसा और अनर्थोहिंसा को त्यागते हुए, जीविकोपार्जन कर सकते थे। जैन ग्रन्थों में अनेक गाथापतियों का वर्णन है जो कृषि कर्म करते थे और समाज में उनको उचित सम्मान मिलता था। आनन्द गाथापति, महावीर के मुख्य श्रावकों में था। उसके पास ५०० हल-प्रमाण भूमि थी और वह कृषि करवाता था।^३ भरत चक्रवर्ती का गाथापति रत्न कृषि-कर्म करवाता था।^४ बृहत्कल्पभाष्य में कृषि को जीवनदायिनी कहा गया है। कृषि की वृद्धि के लिए हल देवता की पूजा की जाती थी। उसके सम्मान में सीता-यज्ञ नामक उत्सव मनाया जाता था।^५ सोमदेवसूरि के अनुसार वार्ता अर्थात् कृषि और व्यापार आदि का युक्तिपूर्वक प्रयोग करने वाला समस्त जनता को सुखी बनाता है तथा स्वयं भी भौतिक सुख प्राप्त करता है।^६

बौद्धपरम्परा की जातककथा के अनुसार राजा शुद्धोधन भी “हल कर्ष-णोत्सव” बड़े धूमधाम से मनाते थे। सारा नगर आकर्षक ढंग से सजाया

-
१. सुविद्यया सुसेवाभिः शौर्येण कृषिभिस्तथा कौसीद वृद्ध्या पाण्येण कलाभिश्च प्रतिग्रहेः यथा कथा चापि वृत्या धनवान् स्यात्तथा चरेत्।”

शुक्रनीति १/१८१.

२. स्थानांग ५/७१।

३. उपासकदशांग १/२८।

४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २/२२।

५. बृहत्कल्पभाष्य भाग ४/ गाथा ३६४७।

६. आनन्द कौसल्यायन, जातक कथा, भाग १/२०७।

जाता था । राजा का हल स्वर्ण-जटित होता था । तूर्यध्वनि के साथ राजा भूकर्षण आरम्भ करता था । इसके साथ ही अमात्य और पुरवासी भी अपना हल पकड़ते और स्त्रियाँ मंगलगान करती थीं ।^१

हिन्दू परम्परा में कृषि का महत्त्व बताते हुए पराशर ने कहा है कि कृषि के अतिरिक्त न तो कोई धर्म है और न कोई लाभ और न कोई सुख ।^२

कृषि-भूमि

आगमों के रचनाकाल में कृषि के लिये पर्याप्त भूमि थी । आज की भाँति उत्तम कृषि हेतु भूमि की गुणवत्ता का ज्ञान आवश्यक माना जाता था । उत्पादन की दृष्टि से भूमि को दो भागों में विभक्त किया गया था उद्धात उपजाऊ अर्थात् काली भूमि, अनुद्धत् अर्थात् पथरीली अथवा ऊसर भूमि । काली भूमि वाला क्षेत्र उत्तम माना जाता था । यह भूमि नरम होती थी और हल आदि से सरलता से खोदी जा सकती थी ।^३ काली भूमि कृषि कार्य हेतु उत्तम मानी जाती थी क्योंकि वह वर्षा होने पर पानी को सोख लेती थी ।^४ बृहत्कल्पभाष्य में उल्लिखित है कि पथरीली भूमि में हल चलाना दुष्कर होता है इसलिये उसमें उपज अच्छी नहीं हो सकती ।^५ गाँव और नगर की जिस भूमि को हल से जोता जाता था और जहाँ यव आदि धान्य उत्पन्न होता था, उसे खेत या क्षेत्र कहते थे ।^६ पाणिनि ने भी खेती की भूमि जो अलग-अलग खण्डों में विभक्त रहती थी उस क्षेत्र को खेत कहा है ।^७ खेत घरों से अधिक दूर नहीं होते थे ।^८

१. “युक्तितः प्रवर्तयन् वार्ता सर्वमपि जीवलोकमभिनन्दयति लभते च सर्वानपि कामान्” । सोमदेव सूरि—नीतिवाक्यामृत ५/५२

२. पराशरस्मृति ५/१८४-१८५

३. बृहत्कल्पभाष्य भाग ५/ गाथा ४८९

४. वृद्धे वि दोण मेहे, न कण्ठभोमाउ लोट्टए । गहण-धरणासमत्थे इय देयम-छित्तिकारिमि । बृहत्कल्पभाष्य भाग १/ गाथा ३३८

५. खलिए पत्थरसीया, मिलिए मिस्साणि धन्नवावणया । वहो भाग १/गाथा २९७

६. “क्षीयते इति क्षेत्र ग्राम नगर यवादिस्यानि अत्रोत्पद्यन्ते”

उत्तराध्ययनचूर्णि गाथा १८७

७. अष्टाध्यायी ५/२/१

८. निशीथचूर्णि भाग २/गाथा ८९३

सीमाओं द्वारा खेत अलग-अलग विभक्त किये जाते थे। औपपातिक से ज्ञात होता है कि चम्पानगरी के खेत सीमायुक्त थे।^१ व्यवहारभाष्य में उल्लेख है कि किसी कुटुम्बी ने क्षेत्र विभाजन सीमा के पास कुछ इस-प्रकार जुताई की कि कुटुम्बी की सीमा-चिह्न ही मिट गये।^२ जातक कथा से भी ज्ञात होता है कि खेतों को परस्पर पृथक् करने हेतु मध्य में सिंचाई की नालियाँ निर्मित की जाती थीं।^३ खेतों के विभाजन से सूचित होता है कि भूमि के मापने का प्रबन्ध था। खेतों को मापने वाले रज्जुक कहे जाते थे। इनका कार्यालय रज्जुकसभा कहा जाता था। रज्जुक संभवतः आज के पटवारी की भाँति राज्य के कर्मचारी थे जो रस्सी से भूमि की माप करते थे। महावीर अपने जीवन के अन्तिम वर्षाकाल में पावा की रज्जुकसभा में ठहरे थे।^४ जातक कथा में भी खेतों की माप करने वाले को रज्जुक वाहक कहा गया है।^५

साधारण कृषकों के पास खेत छोटे ही होते थे जिन्हें वह स्वयं ही जोतते थे।^६ लेकिन बड़े-बड़े खेतों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। आनन्द गाथापति के पास ५०० हल-प्रमाण भूमि थी।^७ इसी प्रकार उत्तराध्ययनचूर्ण से भी ज्ञात होता है कि मगध देश के परासर कुटुम्बी के खेत इतने बड़े थे कि उसमें ५०० हलवाहे काम करते थे।^८ जातक कथा से भी बड़े खेतों की पुष्टि होती है। ब्राह्मण गाँव में एक किसान के पास एक सहस्र करीष का खेत था जिसमें उसने धान की बुआई की थी।^९ खेतों में विविधप्रकार के धान्य उगाये जाते थे। सूत्रकृतांग में शालि, व्रीहि, कोद्रव (धान-विशेष) कंगु (कंगनो) परक, राल आदि

१. "पण्णतसेसीमा" औपपातिकसूत्र १/१

२. व्यवहारभाष्य ७/४४३

३. निदान जातक, जातक कथा आनन्द कौसल्यायन, १/७५

४. कल्पसूत्र सूत्र ८४

५. काम जातक-आनन्द कौसल्यायन, जातक कथा ५/३६७

६. व्यवहारभाष्य ७/४४३

७. उपासकदशांग १/२८

८. जिनदासगणि-उत्तराध्ययनचूर्ण गाथा ११८

९. शालिकेदारजातक-आनन्द कौसल्यायन, जातक कथा ४/४७९

धान्यों के खेतों का वर्णन है ।^१ आचारांग में शाक-सब्जी के खेतों में, बीज प्रधान खेतों में तथा शालि, व्रीहि, माष, मूंग, कुलत्थ आदि धान्यों के खेतों में साधु को यत्नपूर्वक चलने का आदेश दिया गया है ।^२ वर्ष में साधारणतया दो फसलें उगाई जाती थीं ।^३ पाणिनि ने तो वर्ष में तीन फसलों का उल्लेख किया है । आश्विन में बोई जाने वाली फसल आश्व-युज, ग्रीष्म में बोई जाने वालो ग्रीष्मक और वसन्त में बोई जाने वाली वासन्तक कही जाती थी ।^४ आजकल भी जहाँ सिंचाई की सुविधा होती है वर्ष में तीन फसलें लगाई जाती हैं ।

कृषि-श्रम

निशीथचूर्ण में दो प्रकार के किसान कहे गये हैं—(१) कुटुम्बी, (२) कर्मकर । कुटुम्बी वे किसान होते थे जिनके पास प्रभूत साधन होते थे । वे अपने खेतों में कर्मकर नियुक्त करते थे । दूसरे भूमि-हीन किसान होते थे जिन्हें कर्मकर कहा जाता था ।^५ प्रसिद्ध व्याकरणकर्त्ता पाणिनि ने भी तीन प्रकार के किसान बताये हैं—

१. अहलि : जिनके पास हल न हो ।
२. सुहल सुहलि : जिनके पास उत्तम हल हो ।
३. दुर्हल दुर्हलि : जिनके हल जीर्ण-शीर्ण हो ।^६

सोमदेवसूरि ने हल चलाकर जीविकोपार्जन करने वाले को 'हलायुध-जीवि' कहा है ।^७ सम्भवतः वे कृषक अपना हल-बैल ले जाकर दूसरों की खेती करते थे । जिन कृषकों के खेत और उपकरण अपने होते थे उन्हें गोप कहा गया है ।^८ जातक कथा से भी ज्ञात होता है कि कुछ श्रमिक हल इत्यादि कृषि उपकरण रखते थे और माँगने पर दूसरों को भी देते

-
१. सालीणि वा वीहीणि वा कोद्धवाणि वा केगूणि वा परगाणि वा रालाणि,
सूत्रकृतांग २/२/६९८
 २. आचारांग २/१०/१६६
 ३. दशवैकालिकचूर्ण पृ० ७४
 ४. अष्टाध्यायी ४/२/४९
 ५. व्यवहारभाष्य ६/१६३, १६४
 ६. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/२४/४१
 ७. सोमदेवसूरि—यशस्तिलकचम्पू पृ० ९
 ८. वही पृ० ९

थे।^१ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि कुछ कृषक भूमि किराये पर लेकर उसमें कृषि-कर्म करते थे।^२

कृषक प्रायः अपने परिवार के सहयोग से खेती करते थे। निशीथ-चूर्णि से ज्ञात होता है कि एक कृषक के चार पुत्र थे, वे सब मिलकर कृषि-कर्म करते थे।^३ धनी और साधन-सम्पन्न किसान, जिन्हें कुटुम्बी कहा जाता था, अपने खेत स्वयं न जोतकर उसके लिए कर्मकर नियुक्त करते थे और उसके बदले में उन्हें उत्पादन का कुछ भाग दे देते थे।^४ पिण्डनिर्युक्ति से ज्ञात होता है कि केवल भोजन पर भी कर्मकरों को नियुक्त किया जाता था। एक कुटुम्बी हल चलाने के बाद हलवाहों को उनके कार्य के अनुसार, पृथक्-पृथक् भोजन देता था।^५ मगध के पराशर नामक कुटुम्बी के पास ५०० हलवाहे (कृषक) थे जो वर्षा ऋतु के आगमन पर उसके खेत में हल चलाते थे।^६ व्यवहारभाष्य से ज्ञात होता है कि कुछ छोटे कृषक भी कृषि में सहायता के लिये कर्मकरों को नियुक्त करते थे। एक कृषक ने कृषि-कर्म आरम्भ किया, वह स्वयं भी कार्य करता था और कर्मकरों से भी सहायता लेता था।^७ क्रमानुसार उचित भूति भी देता था, यहाँ तक कि अकाल में भी पूरा भोजन देता था।^८

बटाई पर भी श्रमिक रखे जाते थे जिन्हें भाइलग्ग (भागीदार) कहा जाता था। वे निश्चित शर्त के अनुसार काम करके उत्पादन का कुछ भाग प्राप्त करते थे।^९ व्यवहारभाष्य में एक ऐसे कुटुम्बी का उल्लेख है जो कृषिकार्य में दूसरे कृषकों की सहायता लेता था और उनके श्रम से उत्पन्न धान्य का निश्चित अंश भी उन्हें देता था।^{१०}

१. सोमदेवसूरि—यशस्तिलकचम्पू पृ० १०

२. गामनी चंड जातक, जातक कथा, आनन्द कौसल्यायन, ३/२५७

३. निशीथचूर्णि भाग ३। गाथा ३४९९

४. बृहत्कल्पभाष्य भाग २/ गाथा ०८८

५. पिण्डनिर्युक्ति गाथा ३८४

६. उत्तराख्ययनचूर्णि, गाथा ११८

७. उज्जती कम्मे उचित भत्तिप्पदाणं अकालहीणं च परिवड्डी।

व्यवहारभाष्य ४/८३

८. प्रश्नव्याकरण २/१३

९. व्यवहारभाष्य ६/१६३, १६४

कौटिल्य के अनुसार जो कृषक राज्य की भूमि पर कृषि करते थे आधी उपज के अधिकारी होते थे। जिन कृषकों को खेती के उपकरण और बीज राज्य की ओर से दिये जाते थे उन्हें उपज का चौथा या पाँचवाँ भाग प्राप्त होता था।^१ कई बार कुटुम्बी खेतों में अस्थायी कर्मकरों की भी नियुक्ति कर लेते थे। व्यवहारभाष्य से ज्ञात होता है कि एक कुटुम्बी ने शालि काटने के लिए मूल्य देकर अस्थायी कर्मकर रखे थे। वे ठीक से काम करें इसलिए उनकी निगरानी कुटुम्बी की एक दासी कर रही थी।^२ कृषक अपने कार्य में बड़े दक्ष होते थे। आवश्यकचूर्णि से ज्ञात होता है कि एक कृषक इतना दक्ष था कि वह एक हाथ से हल चलाता था और दूसरे हाथ से फल तोड़ता था।^३

कृषि-उपकरण

प्रश्नव्याकरण से ज्ञात होता है कि उत्तम फसल के लिए कृषि के विविध उपकरणों का प्रयोग किया जाता था। कृषि में प्रयुक्त उपकरणों में हल, कुलिय, कुदाल, कैंची, सूप, पाटा, मेढी आदि उल्लिखित हैं।^४ खेती के लिए तीन प्रकार के हलों का प्रयोग किया जाता था—हल, कुलिय दन्तालग।^५

साधारण प्रकार का हल जिसके आगे नुकीला लोहा लगा रहता था और जो भूमि को तोड़ता चला जाता था हल कहा जाता था।^६ लोहे के तीक्ष्ण धार वाले हल को सौराष्ट्र में “कुलिय” कहा जाता था। इसकी लम्बाई दो हाथ होती थी और इससे मिट्टी तोड़ी जाती थी। सामने की ओर लोहे के दांतों से युक्त होने के कारण इस प्रकार का हल दन्तालग कहा जाता था।^७ आवश्यकचूर्णि में उल्लिखित हल नेगल भी दन्तालग की

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/२४/४१

२. व्यवहारभाष्य भाग ६/२०८

३. आवश्यकचूर्णि भाग २ पृ० १५३

४. प्रश्नव्याकरण १/१७, १८, २८

५. वही १/१८; निशीथचूर्णि भाग १ गाथा ६०, “हलदन्ताला “कुलित”

६. निशीथचूर्णि भाग १/ गाथा ६०

७. “कुलितं णाम सुरट्ठाविसते दुहत्थप्पमाणं कट्ठं तस्स अंते अयकीलगा तेसु एगायओ य लोहपट्ठो अडिज्जति तणं तं सव्वं छिदंतो”—वही

कोटि का हल प्रतीत होता है।^१ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि काष्ठ निर्मित एक उपकरण जिसे “कठोल्ल” कहा जाता था मिट्टी को विदोर्ण कर देता था।^२ हल चलाने के बाद भी जो भूमि कड़ी रह जाती थी उसे कुदाल से तोड़ा जाता था^३।

इसके पश्चात् काष्ठ निर्मित उपकरण “मेइय” (पाटा) से भूमि समतल की जाती थी।^४ अवांछित घास-पात निकालने हेतु “सत्थ” नामक उपकरण का उपयोग किया जाता था।^५ अनुमानतः वह लोहे का एक खुरी जैसा छोटा उपकरण था। भगवतीसूत्र में तैयार फसलों को काटने के लिए तीक्ष्ण धार वाले असिड का उल्लेख है,^६ जिसे हंसुआ और द्रांति से समीकृत किया जा सकता है। ज्ञाताधर्मकथांग में द्रांति से फसल काटने का उल्लेख है।^७ निशीथचूर्णि में भी द्रांति और हंसुए से फसल काटने के उल्लेख हैं।^८ फसल कट जाने पर बैलों से मड़ाई करके “सुप्प” (बांस के बने उपकरण) से धान्य और भूसे को अलग किया जाता था।^९ निशीथचूर्णि से भी ज्ञात होता है कि फसल काटने के बाद अनाज की मड़ाई करके उसे सूप से फटका जाता था।^{१०}

जैन ग्रन्थों में खेतों में उर्वरक डालने का विशेष उल्लेख उपलब्ध नहीं है पर कृषि की उन्नतावस्था से स्पष्ट है कि खेतों में उर्वरक का प्रयोग अवश्य होता था। मगध जनपद के “गोब्बर” (गोबर) गांव की शालि अच्छी मानी जाती थी।^{११} सम्भवतः उस ग्राम में गोबर की सुलभता के कारण उसका नाम गोबर गांव पड़ गया होगा और वहां गोबर की खाद सहज

-
१. आवश्यकचूर्णि भाग १ पृ० ८१
 २. कठोल्ल कट्ठणाम हलादिणा वाहियं—निशीथचूर्णि भाग १ गाथा १४७
 ३. “कोद्दालकुलियदालण” प्रश्नव्याकरण १/३५
 ४. प्रश्नव्याकरण १/१८
 ५. सत्थं णिसिरेज्जा” सूत्रकृतांग २/२/६९८
 ६. भगवतीसूत्र १४/७/७
 ७. निशीथचूर्णि भाग १/ गाथा २९३,
 ८. ज्ञाताधर्मकथांग ७/१५
 ९. प्रश्नव्याकरण १/१७
 १०. “वावणं जातेमु लूनेसु मलितेसु पूतेसु” निशीथचूर्णि भाग १/गाथा २९३
 ११. पिंडनियुक्ति गाथा ११८

सुलभ होती होगी। पशुओं की अधिकता के कारण गोबर और राख भी प्रचुर मात्रा में सुलभ होती होगी। निश्चित ही इसका उपयोग उर्वरक के लिए होता रहा होगा। जंगलों में वृक्षों के सड़े पत्तों का उपयोग भी इसी प्रकार उर्वरक के लिए होता रहा होगा। **आवश्यकचूर्ण** में पशु के सींगों, हड्डियों और गन्ने के पत्तों को जलाकर खाद बनाने का उल्लेख है।^१ **दशवैकालिकचूर्ण** में एक व्यापारी का उल्लेख है जो एक गाड़ी ऊँट की लेड़ी उज्जयिनी ले गया था।^२ ऐसा प्रतीत होता है कि ऊँट की लेड़ी का खाद के लिए उपयोग किया जाता था। लगभग उसी काल में लिखे गये **हर्षचरित** में खेतों में खाद डालने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। किसान खाद और कूड़े के ढेरों को गाड़ियों में भरकर उन खेतों में डालते थे जिनकी उर्वरा शक्ति कम हो गई थी।^३

किसानों की खेती का मूल आधार बैल था। हल जोतने हेतु, कुओं से पानी निकालने के लिए, अन्न की मड़ाई करने हेतु तथा अनाज ढोने हेतु बैलों का प्रयोग होता था।^४ कृषि के लिए बैलों को बधिया किया जाता था।^५ **वज्जालंग** में कहा गया है कि बहुत सा गोधन होने पर भी, कृषक एक ही उत्तम बैल से आनन्दित रहता था क्योंकि वही शकट में और वही पीठ पर भार वहन करता था।^६

भूकर्षण

कृषि का शुभारम्भ, भूकर्षण से होता था। **उपासकदशांग** में इसे “फोडीकम्म” कहा गया है।^७ शुभ मुहूर्त देखकर भूकर्षण प्रारम्भ किया जाता था। वर्षा ऋतु के आगमन के पूर्व ही किसान खेती के लिए आवश्यक वस्तुओं को इकट्ठा कर लेते थे।^८

१. जैन जगदीश चन्द्र-प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २४८

२. दशवैकालिकचूर्ण पृष्ठ ५६

३. अग्रवाल वासुदेव, हर्ष चरित का सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १८३

४. प्रश्नव्याकरण २/१३; बृहत्कल्पभाष्य भाग २ गाथा १२१९

५. प्रश्नव्याकरण २.१३; उपासकदशांग २/३८; दशवैकालिक ७/२४-२५

६. जयवल्लभ-वज्जालंग, गाथा १८४

७. उपासकदशांग १/५१

८. निशीथचूर्ण भाग ३ गाथा ३१५२

हल, कुलिक और बैलों की सहायता से खेत को बार-बार जोतकर तैयार किया जाता था।^१ चम्पा नगरी के खेतों की भूमि सैकड़ों हलों से जोती जाती थी। इसलिए उसकी मिट्टी भुरभुरी और कंकड़-पत्थरों से रहित हो गई थी।^२ साधारणतः एक खेत में एक समय पर एक ही फसल बोई जाती थी। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि वर्षा ऋतु के आगमन पर स्वामिनी रोहिणी के सेवकों ने जमीन को अच्छी तरह तैयार करके, बाड़ लगाकर शालि के बीज बोये थे।^३ सूत्रकृतांग में शालि, ब्रीहि, कोद्रव, कंगु, राल आदि के खेतों का वर्णन है। किन्तु कहीं-कहीं एक खेत में एक साथ दो फसलें लगाने के भी उल्लेख मिलते हैं। उत्तराध्ययनचूर्णि से ज्ञात होता है कि किसी किसान ने ईख के साथ कद्दू भी बोया था।^४ प्राचीनकाल में भारतीयों को अच्छे बीजों के महत्त्व का भी ज्ञान था। जैनसाहित्य में धान्य बीजों की अंकुरण क्षमता बनाये रखने के लिए कृषकों द्वारा की जाने वाली पर्याप्त व्यवस्था का उल्लेख है।^५ किसान बुआई के लिए उत्तम बीज का प्रयोग करते थे।^६ कौटिलीय अर्थशास्त्र में बीजों को संरक्षित करने का उल्लेख है।^७

स्थानांग में धान्यों के बोने की चार विधियाँ निर्दिष्ट हैं—

१. बृहत्कल्पभाष्य भाग १ गाथा २६०
२. “हलसयसहस्रसंकिट्ठ-विकिट्ठ-लट्ठ” औपपातिक सूत्र १/१
३. खुड्डांगं केयारं सुपरिकम्मियं करेति सालिअक्खए ववीत, वाडिपरिक्खेवं करेति ज्ञाताधर्मकथांग ७/१२
४. सूत्रकृतांग २/६९८
५. तगाये उच्छु रोवियं तुं बीयो च— उत्तराध्ययनचूर्णि पृष्ठ १३३
६. कलाय-मसूर-तिल मुग-मास-णिष्फाव-कुलत्थ-आलिसंदग सतीण पलिमंथग मादीणं। जहण्णेणं अंतोमूहुत्त उक्कोसेणं पंच संवच्छराई। अयसि-कुसुभंग-कोद्रव-कंगु-वरग-रालग-कोदूसग-सण सरिसव मूलगबीय मादीणंहं एएसिणं धन्नानां कोट्ठाउताणं पल्लाउत्ताणं मंचाउत्ताणं मालाउत्ताणओ लत्ताणं पिहिताणं मुद्धियाणां लछियाणां। जहण्णेणं अंतोमुहुत्त उक्कोसेणं सत्त संवच्छराई। १३१; भगवतोसूत्र ६/७।१, १, ३
७. बृहत्कल्पभाष्य भाग १ गाथा २२०
८. कौटिलीय अर्थशास्त्र २।२।४।४१

१-वापिता:—धान्य को एक बार रोपना ।

२-परिवापिता:—धान्यों को एक स्थान से उखाड़कर पुनः रोपित करना । आज भी इसी विधि से धान लगाये जाते हैं ।

३-निदिता:—खेतों में से घास आदि निकाल कर धान्य लगाना ।

४-परिनिदिता:—धान्य लगाकर दो-तीन बार घास निकालना ।^४

आज भी उत्तम उपज के लिए खेतों से बार-बार खर-पतवार निकासना आवश्यक समझा जाता है । खेतों में बीज डालने की विशिष्ट प्रणाली होती थी । बीजों को इस प्रकार डाला जाता था कि अंकुर सम्यग् रूप से निकल आयें ।^५

सिंचाई

बीजों को बोने के बाद अच्छी पैदावार प्राप्त करने हेतु खेतों को सींचना अत्यावश्यक था । यद्यपि किसान सिंचाई के लिए वर्षा पर अधिक निर्भर करते थे फिर भी सिंचाई के लिए पुष्करिणी, बावड़ी, कुआ, तालाब, सरोवर आदि निर्मित किये जाते थे ।^२ लोग तालाब खुदवाना धर्म मानते थे ।^३ अष्टाध्यायी में नहर, तथा कुओं से धान के खेत सींचने का उल्लेख है ।^४ सिंचाई के लिए प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक दोनों साधनों का प्रयोग किया जाता था । रहट आदि कृत्रिम साधनों से सींचे जाने वाले खेतों को सेतु कहा जाता था । केवल वर्षा के पानी से सींचे जाने वाले खेत केतु कहे जाते थे ।^५ नदियों पर यंत्रों की सहायता से बांध बांधे जाते थे जिससे आवश्यकतानुसार पानी को रोक लिया जाता था और आवश्यकता न होने पर पानी छोड़ दिया जाता था ।^६ बौद्ध ग्रन्थों में भी नदियों पर बांध बांधकर सिंचाई करने के उल्लेख हैं । शाक्य देश में शाक्य और

१. स्थानांग ४।५७६

२. आवश्यकचूर्णि १।५५६

३. “करिसण-पोक्खरणी-वावि वट्ठियण-कूप-सर-तडाग”

प्रश्नव्याकरण १।१४

४. “धर्म निमित्तं तडागं खनति” व्यवहारसूत्र पीठिका पृ० १३;

बृहत्कल्पभाष्य भाग १।गाथा २६२

५. अष्टाध्यायी १।१।२४ तथा ३।३।१२३

६. “खेत्तं सेउ-केउ, सेय अरहट्टाइ केउ वरिसेण’

बृहत्कल्पभाष्य भाग २। गाथा ८२६

७. विमलसूरि—पञ्चमचरियं १०।३५, ५१

कोलिय जातियों ने मिलकर रोहिणी नदी पर बाँध बनाया था और उस जल से दोनों जातियाँ अपने खेत सींचती थीं। सिंचाई के लिये कुंओं और तालाबों का प्रयोग किया जाता था। गुप्तकाल के विश्ववर्मन के गंधार प्रस्तर-लेख से ज्ञात होता है कि विश्ववर्मन ने नदी तट पर बसे नगर में सिंचाई के लिये कूपों और तड़ागों का निर्माण करवाया। नदियों से छोटी-छोटी नहरें निकाली जाती थीं। तोसलि निवासी वर्षा के अभाव में नदियों तथा नहरों के पानी से खेत सींचते थे।^१ जैन साधुओं के लिए पानी के उद्गमस्थानों, तालाबों तथा खेतों की ओर जाने वाली पानी की नालियों पर मल-मूत्र त्याग करना वर्जित था।^२ प्रायः कृषक सिंचाई हेतु पानी की चोरी भी कर लेते थे। निशीथचूर्णि में एक ऐसे किसान का वर्णन है जो चुपके से दूसरे किसान की बारी पर अपने खेत में पानी ले लेता था।^३ इसी प्रकार एक दूसरे कृषक द्वारा दूसरे के खेत को जाने वाली नाली को लकड़ी, पत्तों, मिट्टी आदि से बाधित कर पानी का प्रवाह अपने खेत की ओर मोड़ लेने का उल्लेख है।

वसुदेवहिण्डो के अनुसार उग्रसेन का कुटुम्बी पुरुष रात में खेतों पर मेड़ बाँधकर पानी देता था। मेरुग्रामणी ने उसकी मेड़ तोड़कर अपने खेतों में पानी ले लिया। उग्रसेन ने राज्याधिकारियों से इसकी शिकायत की। अपराध सिद्ध होने पर राजा ने मेरुग्रामणी को दण्डित किया।^४ पानी की चोरी राजकीय अपराध था। इसलिए ग्रामणी होने पर भी मेरु को अपने अपराध के लिए दण्ड भुगतना पड़ा। भिन्न-भिन्न देशों में

१. विश्ववर्मन का गंधार प्रस्तर अभिलेख, पलीट, जान फेथफुल, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, पृ० ९६

२. “आणुग जंगल देसे, वासेण विणा वि तोसलिगहणं।

बृहत्कल्पभाष्य भाग २। गाथा १०६१

३. “ओछांययणेस या सेयणवहेसि” आचारांग २।१०।१६६

४. “करिसगा वारगेण सारिणीए खेत्तादी पज्जेति”

निशीथचूर्णि भाग १। गाथा ३२९

५. “अणस्स वारए अण्णावदेसा पादेण गिक्क भेत्तूण अण्णो खेत्ते पाणियं छुभति। वही

६. वही ४।६६०२

७. संघदासगणि-वसुदेवहिण्डो, १/२९५

भिन्न-भिन्न प्रकार के सिंचाई के साधनों का प्रयोग किया जाता था ।^१ बृहत्कल्पभाष्य के वृत्तिकार के अनुसार लाट देश में प्रमुख रूप से वर्षा के जल से सिंचाई होती थी, सिन्धु देश में नदी के जल से, द्रविड़ में तालाब से तथा उत्तर भारत में कुएँ के जल से सिंचाई होती थी । इसी प्रकार नदियों की बाढ़ के पानी से भी सिंचाई करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । कानन द्वीप में पानी की अधिकता के कारण नावों पर खेती होती थी ।^२ आज भी कश्मीर में डललेक में लकड़ी के पाटों पर मिट्टी डालकर खेती की जाती है ऐसे खेतों को चलते-फिरते खेत कहा जाता है ।

राज्य द्वारा की गई सिंचाई व्यवस्था का क्या स्वरूप था, इसका कोई विशेष उल्लेख जैन ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होता है । अन्य स्रोतों से ज्ञात होता है कि राज्य की ओर से सिंचाई का समुचित प्रबन्ध किया जाता था । प्राचीन अभिलेखों और प्रशस्तियों में राजाओं द्वारा निर्मित जलाशय, कूप, वापी, प्रपा (प्याऊ), सरोवर, तडाग आदि जल-स्रोतों का उल्लेख है ।^३ लगभग १५० ई० के रुद्रदामन के गिरनार शिलालेख से ज्ञात होता है कि मौर्यकालीन सौराष्ट्र के प्रशासक पुष्यमित्र ने सुदर्शन सरोवर बनवाया था । इसके जल का उपयोग सिंचाई के लिए होता था । एक बार अधिक वर्षा होने के कारण उसका बाँध टूट गया । रुद्रदामन् ने उस बाँध को पुनः बँधवाया ।^४ स्कन्दगुप्त ने भी इस बाँध का जीर्णोद्धार करवाया था ।^५

१. “अम्बे नदी टलाए, कूवे अइपूरए य नाव वणी’

—बृहत्कल्पभाष्य भाग २ गाथा १२३९

२. सस्यं निष्पद्यते वृष्टिपानीयैरित्यर्थः, यथा लाटविषये, क्वापि नदीपानीयैः, यथा सिन्धुदेशे, क्वचित्तु, यथा द्रविडविषये, क्वापि कूपपानीयैः यथा उत्तरापथे, क्वचिदतिपूरकेण, यथा बन्नासायां पूरादवरिच्यमानायां तत्पूरपानीयभावितायां क्षेत्रभूमौ धान्यानि प्रकीर्यन्ते, यथा वा डिम्भरेलके महिरावण पुरेण धान्यानि वपन्ति । “नाव ’ इति यत्र नावमारोप्य धान्यमानीतमुपभुज्यते यथा काननद्वीपे वर्णितं । वही, भाग २ पृ० १२३९

३. “विश्ववर्मन का गंगधारा प्रस्तर लेख”

फ्लीट जान फेथुल, भारतीय अभिलेखों का संग्रह; पृष्ठ ९६

४. रुद्रदामन का जूनागढ़ शिला-अभिलेख-पंक्ति १५

नारायण ए० के०, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह (२) पृष्ठ ४३

५. स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिला-अभिलेख, वही (२) पृ० १३३

कलिंग के राजा खारवेल ने प्रभूत धन व्यय करके तनसुली से नहर निकलवाई थी जो सिंचाई और आवागमन की दृष्टि से बहुत उपयोगी सिद्ध हुई थी।^१

कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार सिंचाई का प्रबन्ध करने वाले कृषकों को राज्य प्रोत्साहन देता था। अगर कोई कृषक सिंचाई के लिए नये सीमाबंध बनाता था तो पाँच साल के लिए उसे कर-मुक्त कर दिया जाता था और यदि टूटे-फूटे कुएँ की मरम्मत करके उसे सिंचाई योग्य बनाता था तो चार साल के लिए और अगर बने हुए साधनों को सुधारता था तो उसे तीन साल के लिए कर-मुक्त कर दिया जाता था।^२ इससे प्रतीत होता है कि राज्य सिंचाई-कर भी लेता था पर जैनग्रन्थों में सिंचाई-कर का उल्लेख नहीं हुआ है।

खेतों की सुरक्षा

जानवरों से फसलों की सुरक्षा के लिए भाँति-भाँति के उपाय किये जाते थे। धनवान् कृषक खेतों की रखवाली हेतु रक्षक-पुरुष नियुक्त करते थे। बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि एक कृषक ने यव के खेत की रखवाली के लिए “खेतपाल” (क्षेत्रपाल) की नियुक्ति की थी।^३ जातक ग्रन्थों में भी खेतों की रक्षा हेतु रक्षक-पुरुष नियुक्त करने के उदाहरण मिलते हैं। शालिकेदार जातक के अनुसार एक ब्राह्मण ने शालि के खेत की रक्षा हेतु रक्षक-पुरुष नियुक्त किया था, जो खेत में ही कुटी बनाकर रखवाली करता था।^४ धान्य के खेतों की जानवरों से रक्षा करने के लिए बाड़ बनाये जाते थे।^५ बृहत्कल्पभाष्य से भी ज्ञात होता है कि खेतों के चारों ओर काँटेदार बाड़ लगायी जाती थी या खाई खोद दी जाती थी। जानवरों को भगाने के लिए लाठी और पत्थरों का प्रयोग किया जाता था।^६ उक्त भाष्य के अनुसार किसी कुटुम्बी ने गन्ना लगाया था लेकिन रक्षा के लिए न तो काँटेदार बाड़ ही लगाई, न खाई खोदी और

१. “खारवेल का हाथीगुफा गुहा-अभिलेख, पंक्ति ६ वही (२), पृष्ठ ६७

२. तटाक सेतु बन्धानां नव प्रवर्तने पाञ्चवर्षिकाः परिहारः भवनोत्सृष्टानां चातुर्वर्षिकः, समुपारूढानां त्रिवर्षिकः। कौटिलीय अर्थशास्त्र ३/९/५१

३. बृहत्कल्पभाष्य भाग २ गाथा ११५६

४. शालिकेदार जातक-आनन्द कौसल्यायन, जातककथा ४/४८०

५. “वाडिपरिवेखेवं करेति” ज्ञाताधर्मकथांग ७/१२

६. बृहत्कल्पभाष्य भाग १ गाथा ७२२, भाग १ गाथा ७७

न पशुओं एवं पथिकों को रोकने के लिए कोई उपाय ही किये, इससे उसकी सारी फसल नष्ट हो गई।^१ गन्ने की फसल को शृगाल (सियार) का बड़ा भय रहता था वे फसलों को नष्ट कर देते थे, इसलिए किसान खेतों के चारों ओर खाई खोद देते थे। सींग आदि बजाकर भी सियारों को भगाते थे।^२ खेतों की रखवाली के लिए बालिकाओं तथा स्त्रियों को भी नियुक्त किया जाता था। बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि नंद-गोप की बालिका खेत की रक्षा करती हुई गाय और बछड़ों को भगाने के लिए “टिट् टिट्” शब्द करती थी और अगर इस पर भी वे नहीं भागते थे तो लाठी का प्रयोग करती थी।^३ खेतों को बाढ़ आदि से सुरक्षित करना कृषक का कर्तव्य माना जाता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार, यदि बाढ़ से सुरक्षित खेतों को पशु क्षति पहुँचाते थे तो पशुओं का स्वामी दण्ड का भागी होता था, किन्तु यदि खेत बाढ़ रहित हो तो उसके लिये वह उत्तरदायी नहीं होता था।^४ गौतम धर्मसूत्र के अनुसार गाय द्वारा खेत को हानि पहुँचाने पर पाँच मास, ऊँट और गधे द्वारा नष्ट करने पर छः मास, भेड़ और बकरी द्वारा नष्ट करने पर दो मास और अगर पूरी फसल ही नष्ट हो जाये तो पूरी फसल का मूल्य दण्ड-स्वरूप पशु के स्वामी से ग्रहण किया जाता था।^५ लेकिन मनुस्मृति में उल्लेख है कि बाढ़ रहित खेतों को अगर पशु नष्ट करते हैं तो पशुपालक दण्ड का भागी नहीं हो सकता^६ और अगर बाढ़ वाले खेतों को पशु नष्ट करें तो पशुपालक को दण्ड देना चाहिये।^७

उपज की कटाई

उपज की कटाई को “लवण” कहा जाता था। जब धान्य पक जाते थे तो उनको काटने का प्रबन्ध किया जाता था। ज्ञाताधर्मकथांग में

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २ गाथा ९८८

२. वही, भाग १ गाथा ७२१; दशवैकालिकचूर्ण पृष्ठ ७९

३. टिट् टिट् त्ति नंदगोवस्स बालिया वच्छए निवारेइ । टिट् टिट् त्ति य मुद्धडए, सेसे लट्ठोनिवाएणं । बृहत्कल्पभाष्य भाग १ गाथा ७७

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र ३।१०।६२

५. गौतम धर्मसूत्र २।३।१०, २०, २१, २२, २३

६. मनुस्मृति ८।२३८

७. वही ८।२४१

फसल काटने के कार्य को “असिसहि” कहा गया है।^१ प्रायः कृषक फसल काटने का कार्य स्वयं ही करते थे। वे बड़ी सावधानी से धान्य को पकड़कर तीक्ष्ण धार वाली तलवार (हसुआ) से काटते थे।^२ पर कभी-कभी फसलों को काटने के लिये अस्थायी कर्मकर भी नियुक्त किये जाते थे।^३ काटने के बाद धान्य को खलिहान में, जिसे “खलवाडा” कहते थे, एकत्रित करते थे।^४ पक्वितबद्ध बैलों से धान्य की मड़ाई की जाती थी^५ जिसे “मलन” कहा जाता था। धान्य को भूसे से अलग करने के लिए सूप से फटका जाता था।^६ वायु की दिशा को देखते हुए धान्य को ऊपर से नीचे गिराया जाता, जिससे धान्य और भूसा अलग-अलग हो जाते। राजप्रश्नीयसूत्र में एक खलिहान का बड़ा सुन्दर वर्णन आया है जिसमें एक तरफ धान्य के ढेर लगे हुये थे और दूसरी ओर उड़ावनी हो रही थी। रक्षक पुरुष भोजन कर रहे थे।^७ आज भी गांवों में प्रायः यही पद्धति अपनायी जाती है। जिस स्थान पर धान्य कूटे जाते थे उस स्थान को “गंजसाला” कहा जाता था।^८

धान्य-भण्डारण

जैन ग्रन्थों में धान्य के वैज्ञानिक भण्डारण का उल्लेख मिलता है। इस विधि से धान्य कई वर्षों तक सुरक्षित रखा जा सकता था। बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार धान्य के लिये भण्डारण-गृह निर्मित किये जाते थे। फूस और पत्तियों से कोठार बनाये जाते थे और अन्दर की भूमि को पहले गोबर से लीपा जाता था और फिर दीवार के सहारे धान्य का ढेर लगाया जाता था; फिर उसे बांस और फूस से ढँककर गोबर से लीप दिया जाता था।^९ वर्षा ऋतु में धान्य को कोठे में, दोरों में, मंच, टाण

१. असिपहि जुणति—ज्ञाताधर्मकथांग ७।६

२. भगवतीसूत्र १४।७।५१

३. व्यवहारभाष्य ६।२०४

४. राजप्रश्नीय सूत्र ८२; ज्ञाताधर्मकथांग ७।१९

५. प्रश्नव्याकरण १।१७, २।१३; ज्ञाताधर्मकथांग ७।१९

६. निशोथवृणि भाग १, गाथा २९३; बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १२१९

७. राजप्रश्नीय सू० ८२

८. निशोथवृणि भाग २, गाथा २५५४

९. बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, गाथा ३३१०

अथवा घर के ऊपर बने हुए कोठों में रखा जाता था। कोठे के द्वार को ढँककर पूर्णतः बन्द कर दिया जाता था और उसका मुख गोबर और मिट्टी से लीप दिया जाता था।^१ आज भी कोठलों (कोठारों) के मुखों को बन्द करने के लिये गोबर में मिट्टी मिश्रित करके लीपा जाता है। भगवतसूत्र से ज्ञात होता है कि शालि, व्रीहि, गोधूम, यव, कलाय, मसूर, तिल, मूंग, माण, कुलत्थ, अलिमन्दक, तुअर, अलसी, कुसुम्भ कोद्रव, कंगनो, राल, सन आदि धान्यों को बांस के छबड़े, मचान या पात्र विशेष में रखकर उसका मुख गोबर से लीप दिया जाता था फिर उन्हें मुद्रित और चिह्नित करके रखा जाता था इससे धान्यों की अंकुरण शक्ति दीर्घ काल तक रहती थी^२। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी ऐसे भण्डारण का उल्लेख हुआ है। ये ऊँचे स्थानों पर बनाये जाते थे और इतने दृढ होते थे कि वर्षा और आंधी से भी प्रभावित नहीं होते थे।^३ गाँव से दूर कभी-कभी पर्वतों और विषम प्रदेशों में भी ऐसे भण्डार बनाये जाते थे, जिन्हें 'सम्बन्ध' कहा जाता था। कृषक अपना धान्य गाड़ियों पर लादकर यहां तक पहुँचाते थे।^४ इससे प्रतीत होता है कि सार्वजनिक भण्डार-गृह भी थे जहाँ किसान सम्मिलित रूप से धान्य रखते थे। व्यवहारभाष्य में ऐसे कुटुम्बी का उल्लेख है जो आपद्काल के लिये अपने धान्य को कोष्ठागार में भरकर रखता था।^५ धान्य-भण्डारण हेतु मिट्टी के बड़े-बड़े भाण्डों का भी प्रयोग किया जाता था। जिसमें—

इदुर—सूत या बालों की बनी बोरी।

आलिन्द—धान्य रखने का एक बर्तन और

उपचारि—विशाल कोठे का उल्लेख मिलता है।^६

प्रमुख उपज

निशीथचूर्णि से स्पष्ट होता है कि कृषि उद्योग बड़ी उन्नति पर था, विविध प्रकार के धान्य उगाये जाते थे। जिनमें यव, गोधूम, शालि,

१. ज्ञाताधर्मकथांग ७।२०

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र २५।४१

३. सवाहो संबोदु वसति जहि पव्वयाइविसमेसु—बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १०९२

४. व्यवहारभाष्य, भाग ६, पृ० ३०

५. अनुयोगद्वारसूत्र १४४

६. वही

५४ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

व्रीहि, साठी, कोद्रव, मक्का, कंगु, बाजरा, रालक, तिल, मूंग, माष, अलसी, चना, मसूर, गिकाव (चवलगा), इक्षु, तूवर, कलाय, धाणग और मटर आदि थे।^१ बृहत्कल्पभाष्य में १७ प्रकार के धान्यों का उल्लेख हुआ है जिनमें से निम्न महत्त्वपूर्ण हैं—

यव

इसकी खेती कम उपजाऊ भूमि पर की जाती थी। भोजन में इसका पर्याप्त प्रयोग होता था।^२ यव से “यवागू” बनाया जाता था जो उस समय का प्रसिद्ध पेय था। पाणिनि ने भी इसका उल्लेख किया है।^३

चावल

धान्यों में प्रमुख चावल था। इसकी खेती बहुतायत से होती थी। शालि और व्रीहि, चावलों की श्रेष्ठ जातियाँ मानी जाती थीं। इनके अतिरिक्त निम्न प्रकार के चावल भी थे जिन्हें निवार और साठो कहा जाता था। यह निर्धन लोगों का मुख्य भोजन था।

ज्ञाताधर्मकथांग में शालि की फसल उगाने का वर्णन आया है। वर्षाकाल के आरम्भ में अच्छी वृष्टि हो जाने के बाद छोटी-छोटी क्यारियाँ बनाकर शालि-कणों की बुआई कर दी जाती थी। जब पौधे कुछ बड़े हो जाते थे तो उन्हें उखाड़कर दूसरे स्थान पर पुनः रोप दिया जाता था। जब पौधे खूब फैल जाते थे और बालियों में दाने पड़ जाते थे तथा वे पक जाते थे तो उन्हें तीक्ष्ण द्रांति से काटकर उनकी मड़ाई करके भूसे से अलग कर लिया जाता था।^४ यूनानी लेखक स्ट्राबो ने भी एक स्थान से धान के पौधे को उखाड़ कर दूसरे स्थान पर लगाकर बोने

-
१. घण्णाइ चव्वीसं, जव-गोहुम-सालि-व्रीहि-सट्टिया। कोद्दव-अणया-कंगु, रालग-तिल-मुग्ग-मासा य ॥ अतसि हिरिमंय तिपुड, गिण्काव अलसिदरा य मासा य। इक्खु, मसूर तुवरी कुलत्थ धाणग-कला य।

निशीथचूर्णि भाग २, गाथा १०२९, १०३०

२. घडिअयंरं खलु घणं, सणसत्तरसा बिया भवे घन्तं।

बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा ८२८

३. उत्तराध्ययनचूर्णि गाथा १८७

४. पाणिनि अष्टाध्यायी ४/२/१३६

५. ज्ञाताधर्मकथांग ७/१२१५

को इसी विधि का उल्लेख किया है।^१ औपपातिक से ज्ञात होता है कि चम्पा नगरी में शालि की उपज बहुत अच्छी होती थी।^२

गोधूम

छठी-सातवीं शती में गेहूँ की खेती होती थी। गेहूँ से भाँति-भाँति के पकवान निर्मित होते थे। व्यापारी गेहूँ की गाड़ियाँ भर कर व्यापार के लिये जाते थे। इस उल्लेख से शास्त्रकार का अभिप्राय उत्तरी भारत से रहा होगा जहाँ गेहूँ की खेती बृहद् स्तर पर होती थी।

कोद्रव और रालग

कोद्रव और रालग निम्नकोटि का धान्य माना जाता था। निर्धनों के भोजन में कोद्रव और रालग की बहुतायत थी। कुछ गाँवों में मात्र कोद्रव और रालग की ही खेती होती थी। वहाँ भिक्षुओं को भिक्षा में कोद्रव और रालग ही प्राप्त होता था।^४ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि एक निर्धन स्त्री के घर में कोद्रव का ही भोजन था। अपने घर आये भाई के लिये वह कहीं से शालि का ओदन मांग कर लाई थी।^५

दालें

प्रतिदिन के भोजन में दालों का मुख्य स्थान था। मूंग, माष, मसूर, अरहर, चना, मटर, कुलत्थ आदि दालों के उल्लेख आये हैं।^६ इससे प्रतीत होता है कि दालों को पर्याप्त मात्रा में खेती होती थी।

इक्षु

गन्ने की खेती बृहद् स्तर पर होती थी। औपपातिकसूत्र में उल्लेख है कि चम्पा नगरी के खेतों में ईख की भी खेती होती थी।^७ अष्टाध्यायी में भी गन्ने की नियमित खेती होने के उल्लेख आये हैं।^८ गन्ने के लिये

१. पुरी वैजनाथ, इण्डिया एज डिस्क्रीड्ड बाई अर्ली ग्रीक राइटर्स, पृष्ठ १००

२. औपपातिक सूत्र, १.

३. निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ५७७४

४. पिंडनियुक्ति गाथा १६२

५. निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४९५

६. आचारांग २।१०।८, निशीथचूर्णि भाग २, गाथा १०२९, १०३०

७. औपपातिक सूत्र, १.

८. पाणिनि अष्टाध्यायी ८/४/५

५६ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

उपजाऊ और मुलायम भूमि की आवश्यकता थी ।^१ ईख के साथ कद्दू भी बोया जाता था ।^२

तिलहन

तेल निकालने के लिये कई प्रकार के बीज बोये जाते थे । अलसी, कुसुम्भ, सरसों, तिल आदि का उल्लेख है ।^३

कपास

वस्त्र बनाने के लिये कपास तथा सन का उत्पादन होता था । कपास को “तुलकड़” कहा जाता था । वस्त्र-उद्योग की उन्नति इस बात की पुष्टि करती है कि कपास की खेती पर्याप्त मात्रा में होती होगी ।^४ शात्मलि वृक्ष से उत्तम रुई प्राप्त होती थी । सूत्रकृतांग में शात्मलि वृक्ष का उल्लेख हुआ है ।^५

मसाले

भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिये भाँति-भाँति के मसाले उपयोग में लाये जाते थे । पीपल, मिर्च, अदरक, हल्दी, जीरा, हींग, कपूर, लवंग, जायफल, प्याज, लहसुन, आदि के उल्लेख से प्रतीत होता है कि इनकी खेती भी अवश्य होती होगी ।^६

प्राकृतिक विपदायें

प्राचीनकाल में कृषि प्रायः वर्षा पर निर्भर करती थी, इसलिये कई बार अनावृष्टि या अतिवृष्टि से फसलें नष्ट हो जाती थीं । कभी-कभी लोगों को लम्बे दुर्भिक्षों का सामना करना पड़ता था । महावीर के निर्वाण के १६० वर्ष बाद मगध में १२ वर्ष का भयंकर अकाल पड़ने का उल्लेख है । इस समय कृषि का उत्पादन न होने से लोग भूखे मरने लगे ।^७ कीड़े-

१. बृहत्कल्पभाष्य भाग १, गाथा २६०

२. “उत्थु रेवियं तुं बीओ” —उत्तराख्ययनचूर्णि, पृष्ठ १३३

३. बृहत्कल्पभाष्य भाग १, गाथा ५२९

४. आचारांग २/५/१/१४१

५. सूत्रकृतांग १/६/३६९

६. आचारांग २/१/८, ४५; बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १६११, १६१३; भगवतीसूत्र ७/३/५

७. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० १८७

मकोड़े और चूहे भी फसल को अत्यधिक हानि पहुँचाते थे। हिमपात और ओलों से भी फसल नष्ट हो जाती थी^१। प्राकृतिक विपदाओं से बचाने के लिये लोग अन्न को भण्डारों में सुरक्षित रखते थे।^२

आर्थिक जीवन में ग्रामों का महत्व एवं व्यवस्था

आगमों के रचनाकाल में भी भारतीयों का आर्थिक जीवन कृषि प्रधान ही था। अधिकांश लोग ग्रामों में ही निवास करते थे और नगरों में निवास करने वाले भी किसी न किसी रूप में ग्रामों से जुड़े रहते थे। गांवों में गाय, भैंस पालने वाले भी बड़ी संख्या में रहते थे। बृहत्कल्पभाष्य में ऐसे गांवों को “घोष” कहा गया है।^३ कुछ गाँव जंगल या पहाड़ी के ऊपर बनाये जाते थे और वहाँ पर कृषक अपना अनाज एकत्र करके रखते थे, ऐसे गाँवों को “सम्बाध” या “संवाह” कहा गया था।^४ कुछ गाँवों के चारों ओर मिट्टी की प्राचीर बनाई जाती थी ऐसे गाँवों को (खेट) कहा जाता था।^५ सुरक्षा और सुविधा के लिये कुछ गाँवों के मध्य में एक केन्द्रीय गाँव बनाया जाता था जो नगर से छोटा और साधारण गाँव से बड़ा होता था। इसके चारों ओर मिट्टी का परकोटा बना होता था। ऐसे गाँव को “खर्वट” कहा जाता था।^६ कौटिल्य ने २०० गाँवों के बीच एक ‘खर्वट’ बनाने के लिये कहा है।^७ गाँवों में रहने वालों की सब सुविधाओं का ध्यान रखा जाता था और गाँव प्रायः आत्मनिर्भर होते थे। बृहत्कल्पभाष्य में आदर्श गाँव की विशेषता बताई गई है—जहाँ पानी के लिये कुँआ हो, खेत समीप हो, पशुओं के लिये चरागाह हो, वन-प्रदेश निकट हो, बच्चों के खेलने के लिये मैदान हो और दासियों के घूमने के लिये स्थान हो।^८ प्रत्येक गाँव की अपनी सीमा होती थी। नदी, पहाड़,

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र ४/३ ७८; मिलिन्द प्रश्न, पृष्ठ ३५९

२. व्यवहारभाष्य भाग ६, पृ० १६३-१६७

३. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १०९२

४. वही

५. “खेडं पुण होइ धूलिपागारं” वही भाग २, गाथा १०८९

६. वही, भाग २, गाथा १०८९

७. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/१/१९

८. परसीमं पि वयंति हु, सुद्धतरो भणति जा ससीमा तु। उज्जाण अवत्ता वा उक्कीलंता उ सुद्धयरो बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १०९८

वृक्ष, वन, श्मशान आदि सीमा-चिह्न होते थे।^१ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी ऐसा ही बताया गया है।^२

कृषि के उन्नयन में राज्य का योगदान

भारत में सदा से कृषि के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। यूनानी यात्री मेगस्थनीज के अनुसार राज्य में कृषि का इतना महत्त्व था कि जो प्रजा कृषि करती थी वह युद्ध अथवा अन्य किसी प्रकार की राजकीय सेवा से मुक्त थी। उनकी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। यहाँ तक कि गृहयुद्ध के समय भी सैनिकों को किसानों को उत्प्रेषित करने अथवा उनके खेतों को नष्ट करने की स्पष्ट मनाही थी।^३

राज्य में किसी भी प्रकार के आपत्काल में पूर्व सुरक्षित-संचित अन्न-भण्डार प्रजा के सहायतार्थ खोल दिये जाते थे। औघनियुक्ति में एक ऐसे राजा का प्रसंग आता है जिसके राज्य में अकाल पड़ गया था। सारे अन्न-भण्डार रिक्त हो गये थे। तब राजा ने अपनी प्रजा के कल्याण के लिये अपने कोष्ठागारों से भोजन और बीज के निमित्त अनाज दिया।^४ कौटिल्य ने कृषिकर्म की देखभाल के लिये नियुक्त राजकर्मचारा को “सीताध्यक्ष” कहा है।^५ जैन ग्रन्थों में भरत चक्रवर्ती के १४ रत्नों में से एक रत्न गाथापति था जो राज्य में कृषि की देखभाल करता था।^६ राजकोष की सम्पन्नता मुख्यतया कृषि पर निर्भर करती थी। इसलिए राज्य कृषि के विकास एवं उसकी समृद्धि के प्रति सदा सचेष्ट रहता था। कृषि को हानि पहुँचाने वाले कार्यों को रोका जाता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार जो कृषक राजा से भूमि लेकर उस पर कृषि नहीं करता था उससे भूमि छीन ली जाती थी।^७ सोमदेवसूरि ने लवण काल अर्थात् फसल की कटाई के समय गांव में सेना के प्रवेश का निषेध किया है।^८

१. आदिपुराण १६/१६७

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/१/१९

३. पुरो बैजनाथ-इण्डिया एज डिस्क्राइव्ड बाई अली ग्रीक राइटर्स, पृष्ठ ७८

४. औघनियुक्ति, पृष्ठ २३

५. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/२४/३१

६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २/२२

७. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/१/१९

८. सोमदेवसूरि-नीतिवाक्यामृतम् २२/१६

उपवन-उद्यान-वाटिका

कृषि के सहकारी धन्ये के रूप में फल-फूलों के उपवनों का उद्योग भी प्रचलित था। उस समय के लोग उद्यानों के वर्धन एवं पोषण में प्रवीण थे। सब्जियों के बगीचे लगाये जाते थे जिनमें विविध प्रकार के कंद और शाक उत्पन्न किये जाते थे।^१

औपपातिकसूत्र में वर्णित चम्पानगरी के उपवन ऐसे वृक्षों से युक्त थे जो सभी ऋतुओं के फल-फूलों से लदे रहते थे।^२ विविध प्रकार की वनस्पतियों, पुष्पों, छायादार, फलदार और दारुवृक्षों के वर्णन से स्पष्ट होता है कि वनस्पति विद्या चरमोत्कर्ष पर थी।

ज्ञाताधर्मकथांग से पता चलता है कि नन्दमणिकार ने राजगृह के बाहर एक पुष्करिणी खुदवाई थी, जिसके चारों ओर उपवन और उद्यान बने हुए थे। उद्यानों में विभिन्न प्रकार के फल-फूलों के वृक्ष थे।^३ सम्पन्न व्यक्ति अपने निजी उद्यान भी लगाते थे। वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि एक सार्थवाह ने अपने उद्यान की देखभाल के लिए एक व्यक्ति को नियुक्त किया। उस व्यक्ति ने कठिन परिश्रम से नये फूल और पौधे लगाकर उद्यान को बहुत सुन्दर बना दिया जिससे प्रसन्न होकर सार्थवाह ने उसे वस्त्रयुगल देकर सम्मानित किया और स्थायी नौकरी भी दे दी थी।^४

बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि तत्कालीन जीवन में उपवनों, उद्यानों का विशेष महत्त्व था। उपवनों में विशेष उत्सव मनाये जाते थे। जहाँ पर नागरिक नृत्य आदि के द्वारा अपना मनोरंजन करते थे।^५ सामान्य नागरिकों के लिये नगर के बाहर सार्वजनिक “उज्जाण” उद्यान होते थे।^६ निशोथचूर्णि में राजाओं के उद्यान जो नगरों की सीमा पर होते थे, को “णिज्जाण” (उद्यान) कहा गया है।^७ जब मेघकुमार गर्भ में था तब

१. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० ३५०

२. औपपातिक सूत्र २

३. ज्ञाताधर्मकथांग १३/१८

४. संघदासगणि-वसुदेवहिण्डी भाग १, पृ० ५०

५. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ५, गाथा ५१५३; उत्तराध्ययनचूर्णि ४/२२१; वसुदेव-हिण्डी, भाग १, पृ० ४६

६. निशोथचूर्णि भाग २, गाथा २४२६

७. वही, भाग २, गाथा २४२६

उसकी माँ धारिणी को राजगृह की सीमा से संलग्न उद्यान में भ्रमण की दोहद (इच्छा) हुई थी ।^१ उद्यानों में भ्रमण के लिये आने वाले व्यक्तियों के लिये विश्रामगृहों की भी व्यवस्था होती थी ।^२

उद्यानों में विभिन्न प्रकार की लतायें और फूल लगाये जाते थे, जिनमें जाई, मोंगरा, जूही, मल्लिका, वासन्ती, वस्तुल, शैवाल, मृगदंती, पद्मलता, नागलता, अशोकलता आदि का उल्लेख है ।^३ कोई भी उत्सव या समारोह पुष्पों के बिना सम्भव नहीं था । प्रजाजन उत्सवों पर फूलों के आभूषण, विलेपन, अंगराग और मालाओं का भरपूर प्रयोग करते थे ।^४ राज्याद्यान के मालियों का समाज में विशेष स्थान था । व्यवहारसूत्र में उल्लेख है कि एक माली ने राजा को एक सुन्दर माला बनाकर भेंट की । राजा ने प्रसन्न होकर उसे प्रचुर मात्रा में धन दिया ।^५ अन्तकृतदशांग से ज्ञात होता है कि अर्जुन, राजगृह का एक प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न माली था । उसने अपनी पुष्पवाटिका में पाँच रंग के फूल लगा रखे थे । प्रातःकाल वह अपनी वाटिका में अपनी पत्नी के साथ पुष्पचयन के लिये चल देता था और पुष्पों से भरी टोकरियाँ बाजारों, हाटों में बेचकर धन अर्जित करता था ।^६ कोंकण देश में लोग फूलों के विक्रय से जीवन-यापन करते थे ।^७

जैन ग्रन्थों में गाँवों और नगरों के निकट ऐसे वनों, उपवनों के उल्लेख मिलते हैं जिनमें विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्यवर्धक औषधयुक्त फल होते थे । इन उपवनों में आम, जम्बूफल, शाल, अखरोट, पोलू, शेलू, सल्लकी, मोचकी, मालूक, बकुल, पलाश, करंज, सीसम, पुत्रजीवक, अरिष्ट, बहेड़ा, हरड़, भिलवा, अशोक, दाडिम, लूकच, शिरीष, मातुलिग, चन्दन, अर्जुन, कदम्ब आदि के वृक्ष होते थे ।^८ उपासकदशांग के छठे-सातवें अध्याय

-
१. भगवती १३/६/२
 २. प्रज्ञापना १/४०; औपपातिक सूत्र २
 ३. प्रज्ञापना १/२०
 ४. बृहत्कल्पभाष्य भाग ३, गाथा २५६०
 ५. व्यवहारसूत्र. १/४/६
 ६. अन्तकृतदशांग ६/३/४
 ७. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १२३९
 ८. प्रज्ञापना १/४०; औपपातिकसूत्र २

में सहस्राम्रवन का उल्लेख है।^१ ऐसा प्रतीत होता है कि व्यापारिक उद्देश्य से फलों के बड़े-बड़े उद्यान लगाये जाते थे। फलों को सुखाकर संरक्षित भी किया जाता था। फल सुखाने के स्थान को “कोहक” कहा जाता था। फिर वहाँ से उन्हें गठरी में बांधकर या गाड़ी में भरकर विक्रय-हेतु बाजारों में ले जाया जाता था।^२ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि पुलिंद जंगलों से गाड़ियों में फल भरकर लाते थे।^३ जो फल समय आने पर वृक्षों पर ही पक जाते थे उन्हें वृक्षपर्यायाम कहा जाता था।^४ आज की ही भाँति कच्चे फलों को कृत्रिम विधि से चावल आदि के भूसे के अन्दर रखकर अथवा धूम आदि के द्वारा ऊष्मा पहुँचाकर पकाया जाता था। आम आदि को पकाने के लिये बृहत्कल्पभाष्य में “इंधणपर्यायाम्” विधि का उल्लेख मिलता है। इस विधि में भूसे के अन्दर रखकर गर्मी पहुँचाई जाती थी, जिससे वे जल्दी पककर तैयार हो जाते थे।^५ इसी प्रकार “धूम्रपर्यायाम्” विधि का भी उल्लेख मिलता है। इसमें एक गड्ढा खोदा जाता था। इसमें उपलों या कंडों की अग्नि भर दी जाती थी। इस गड्ढे के चारों ओर गोलाई बनाते हुये गड्ढे खोदे जाते थे जिनमें फल रखे जाते थे और इन गड्ढों की दीवार में केन्द्रीय गड्ढे की ओर छिद्र बना दिये जाते थे; जब छिद्रों से इन गड्ढों में धूम्र पहुँचता था तो उसकी ऊष्मा से फल पक जाते थे।^६ इसी प्रकार “गंधपर्यायाम्” विधि का उल्लेख मिलता है, इसमें आम्रक, चिर्मट बीजपूरक आदि को पके फलों के साथ रख दिया जाता था, जिससे पके फलों की सुगन्ध से कच्चे फल भी पक जाते थे।^७ फलों के रसों से विविध शरबत बनाये जाते थे। आचारांगसूत्र में आम, अमड़ा, कपित्थ,

१. “सहस्रववणो उज्जाणे”—उपासकदशांग ६/२, ७/२;

भगवतीसूत्र ११/९/२

२. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा ८७२

३. निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ४७३२

४. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा ८४३; निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४७१०

५. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा ८२; निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४७११

६. ‘कोद्धवपलालमाइ धूमेण तिदुगाई पच्चते मज्झ गडाडगणि पेरत तिदुय । छिद्धधूमन’—बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा ८४२; निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४७११

७. आचारांग २/१/८/४३

६२ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

मातुलिंग, द्राक्ष, अना, खजूर, नारियल, करीर, बेर, आमला, इमली आदि फलों से “पेय” (शरबत) बनाये जाने का उल्लेख है।^१

वनो-उपवनों से मधु प्राप्त किया जाता था। आज की भाँति व्यावसायिक स्तर पर तो मधुमक्खी का पालन नहीं किया जाता था, लेकिन विभिन्न जैन ग्रन्थों में उपवनों में वृक्षों पर बने मधुमक्खियों के छत्तों से मधु निकालने के उल्लेख मिलते हैं।^२

प्रश्नव्याकरण से ज्ञात होता है कि भीलों से नकद मूल्य पर मधु खरीदा जाता था। मधु का व्यापार करने वाले को पापी कहा जाता था।^३ यद्यपि मधुसेवन पौष्टिक आहार माना जाता था किन्तु जैन ग्रन्थों में मात्र असाध्य रोगों से मुक्ति के लिये मधुसेवन को छोड़कर जैन साधुओं के लिये इसका उपभोग वर्जित था।^४ निशीथचूर्णि में तीन प्रकार के मधु, आम की कोपलों से बने “कैतिय”, बड़ी मधुमक्खियों के छत्तों से निकाले गये “मक्खिय” तथा छोटी मधुमक्खियों के छत्तों से निकाले गये भ्रामर का उल्लेख मिलता है।^५ पाणिनि ने बड़ी मक्खियों (डांगरा) के छत्तों से निकाले गये मधु को भ्रामर एवं छोटी मधुमक्खियों के छत्तों से निकाले गये मधु को “क्षौद्र” कहा है।^६

पशुपालन

समाज में दूसरा प्रारम्भिक उद्योग पशुपालन था। आर्थिक संयोजन में पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। कृषि तथा यातायात मुख्य रूप से पशुओं पर ही आधारित थे। पशुओं को सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया गया था।^७ जिस व्यक्ति या परिवार के पास जितने अधिक पशु होते वह उतना ही अधिक धनवान और सम्पन्न समझा जाता था। उपासकदशांग

१. आचारांग २/१/८/४३

२. प्रश्नव्याकरण १/१२; निशीथचूर्णि भाग २, गाथा १५९३

३. प्रश्नव्याकरण २/१३

४. आचारांग २/१/८/४६

५. कैतिय मक्खिय ‘भ्रामर च’—निशीथचूर्णि २/१५९३

६. पाणिनि अष्टाध्यायी ४/३/११८

७. हय-गय-गो-मद्दि-स-उट्ट-खर-अय-गत्रेलग-एतो परिगेहा

प्रश्नव्याकरण, ५/१; बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, गाथा ४८२८

के दसों श्रमणोपासकों के पास सहस्रों पशु थे जिनमें गोधन प्रमुख था^१ यद्यपि इस कथन में अव्युक्ति हो सकती है, परन्तु इतना निश्चित है कि पशु रखना सम्पन्नता का सूचक था, गोधन जहाँ समृद्धि का द्योतक था वहीं अधिक से अधिक लोगों को काम देने की दृष्टि से भी इसका महत्त्व था। पशुपालन ग्रामीण क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं था। नगरों में भी उनका आधिक्य था। राजगिरि में रहने वाले गाथापतियों के पास हजारों की संख्या में पशु थे।

निशियवूर्णि से ज्ञात होता है कि गाय, ऊँट, भैंस, बकरी, घोड़ा, हाथी, खच्चर आदि पालनू पशु थे।^२ पोषित पशुओं से सम्बन्धित विस्तृत ज्ञान हेतु अनेक शास्त्र लिखे गये थे।^३ पुरुषों की ७२ कलाओं में हस्ति, अश्व, गौ आदि के भेद जानना भी सम्मिलित था।^४

जहाँ गायें रहती थीं उसे “गोशाल” अर्थात् गोसाला कहा जाता था। विपाकसूत्र से ज्ञात होता है कि राजाओं की गोशालायें होती थीं, जिनमें गायों की सुरक्षा-संरक्षण के लिये कर्मचारी नियुक्त होते थे। “भीमकृष्णह” सुनंद राजा के “गोमंडव” (गोशाला) में नियुक्त था इस गोशाला में नगर के गाय, बैल, छोटी बछिया और सांड थे। अनाथ तथा सनाथ सभी प्रकार के पशुओं के भोजन-पानी की व्यवस्था थी।^५ आवश्यकवूर्णि से ज्ञात होता है कि राजा करकंडु को कई गोशालायें थीं जिनमें पशुओं का पालन किया जाता था।^६ वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि वसंतनपुर के राजा जितशत्रु के दो गोमंडल थे, जिसके लिये उसने “चारुनंदी” और “फग्गुनंदी” नामक दो गोपालकों को नियुक्त किया था। राजा के पशु चिह्नित होते थे। एक बार राजा, चारुनंदी द्वारा रक्षित

-
१. उपासकदशांग १/१२ २/४
 २. “गावो-उट्टो महिसो अय एलग आसतरगा घोडग गद्दभ हत्थी चतुस्पदा होति दस धा तु” निशियवूर्णि भाग २, गाथा १०३४
 ३. नन्दीसूत्र ७४
 ४. ज्ञाताधर्मकथांग ८५; कल्पसूत्र १/९६
 ५. “गोषादि जत्थ चिट्ठति सा गोसाला” निशियवूर्णि भाग २, पृष्ठ ४३३
 ६. विपाकसूत्र २/१९, २०, २१
 ७. आवश्यकवूर्णि भाग २, पृ० २०७

गोमंडल में गया, अपने पशुओं को स्वस्थ और सुन्दर देखकर बहुत प्रसन्न हुआ।^१ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी राजकीय पशुओं को चिह्नित करने का उल्लेख है।^२ जो राज-चिह्नित पशुओं की अदला बदली करता था उसे दण्ड दिया जाता था। पशुशालाओं में पोषित पशुओं के भोजन-पानी का प्रबन्ध होता था। हाथियों को केले और डंठल, भैंसों को बांस की कोमल पत्तियाँ, घोड़ों को घास, चना, मूँग तथा गायों को अर्जुन की पत्तियाँ दी जाती थीं।^३

गोशालाओं में पशुओं का क्रय-विक्रय भी होता था। पउमचरिय के अनुसार पशुओं के क्रय-विक्रय में पशुओं के स्वामियों और ग्राहकों में परस्पर मतभेद भी हो जाते थे।^४ कई बार गोशाला के कर्मचारियों और उनके स्वामियों में इतना विवाद हो जाता था कि वे गृहपतियों से क्रोधित होकर उनकी ऊंटशाला, गोशाला, अश्वशाला और गर्दभशाला को जला डालते थे।^५

पशु-पालन कृषि, दूध, यातायात, उनके चमड़े और मांस हेतु किया जाता था। कृषि में पशुओं के बहुविध उपयोग के कारण ही कृषक पशु-पालन को अपना धर्म समझते थे। बैल हल चलाने, रहट चलाने, कोल्हू चलाने और शकट खींचने के उपयोग में आते थे।^६ हल चलाने तथा रहट चलाने और गाड़ी खींचने वाले पुष्ट बैलों को उनके स्वामी अच्छा चारा देते थे।^७ बैलों से आवश्यकता से अधिक कार्य लेना अच्छा नहीं माना जाता था। हल आदि देर तक चलवाने पर बैलों द्वारा क्रोध प्रदर्शित

१. संघदासगणि—वसुदेवहिण्डी भाग २, पृ० २९७

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/२९/४६

३. हत्थिस्स इट्ठं णलइक्खु महिसो सुकुमाल वंसपत्तमादि आसो हरिमत्थ मुग्गादि गोणो अज्जुणमादि सुगन्धदव्वं ।

निशीथचूर्णि भाग २, गाथा १६३८, बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १५९०

४. पउमचरिय ३/९५, ९६

५. सूत्रकृतांग २/२/७१

६. दशवैकालिक ७/२४, २६

७. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १११९

करने के उल्लेख आये हैं ।^१ कृषि और यातायात के लिये बैलों को बधिया किया जाता था ।^२

स्वस्थ पशुओं की प्रचुरता थी । गाय, भैंस, बकरी, भेड़ और ऊंटनी दूध देने वाले पशु थे ।^३ दुग्ध से दधि, नवनीत, घृत और तक्र की प्राप्ति होती थी; इन्हें गोरस कहा जाता था जो पौष्टिक भोजन माना जाता था ।^४ जिस स्थान पर गौ आदि का दोहन किया जाता था, उसे “दोहण वाडग” (दुग्धशाला) कहा जाता था ।^५ ‘दोहणवाडग’ गाँव के बाहर होते थे वहाँ स्त्री और पुरुष दोनों काम करते थे ।^६ आज की ही भाँति मृतवत्सा गाय का दूध निकालने के लिये उसके पाँव बाँध दिये जाते थे या छल से दूसरा बछड़ा लाकर उसका दोहन किया जाता था ।^७

उत्सवायोजनों के अवसर पर दुग्ध की माँग बढ़ जाती थी । बृहत्कल्प-भाष्य से ज्ञात होता है कि एक ग्वाले ने यह सोचकर कि “संखड़ी” (विशेष मेला-भोज) वाले दिन दुग्ध का अधिक मूल्य प्राप्त होगा और वह एक साथ सारा दुग्ध लाभ सहित बेचेगा । उसने दस दिन पूर्व से ही गाय का दोहन बन्द कर दिया ।^८

ग्वाले दिनभर गायों को चरागाहों में चराते और सूर्यास्त के पूर्व वापस लाते थे । बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि एक बार ग्वालों के एक गाँव में ग्रामस्वामो पधारे और गाँव के मन्दिर में ठहरे । उनके सम्मान में गाँव के रास्ते गोबर और गोमूत्र से गन्दे न हो जायँ इस आशंका से गायों को पूरी रात गाँव के बाहर रखा गया । फलतः सभी सवत्सा गायें विकल रहीं ।^९ ग्वाले गायों को चरागाहों तक ले जाने और वहाँ से ले

१. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १२६८

२. उपासकदशांग १/३८; प्रश्नव्याकरण २/१३

३. “खीराणि पंच गात्री महिसो अय एलय उट्टीणं च ।”

निशीथचूर्णि भाग २, गाथा १५९३

४. दुद्धं दहियं णवणीयं सप्पि तक्कं च एते पंच दव्वा

निशीथचूर्णि भाग २, गाथा ११९९; बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, गाथा ३५९७

५. वही भाग ३, गाथा ३५६७, भाग २, गाथा ११९९

६. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४, गाथा ११९९

७. प्रश्नव्याकरण, १/११

८. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १५९१

९. वही, भाग २, गाथा २२०३

आने के लिये और उनको हांकने के लिये झंडी दिखाकर मार्ग-निर्देशन करते थे ।^१ गाय के नवजात बत्स को, जो चलने में समर्थ नहीं होता था, गोपालक स्वयं उठाकर चरागाह तक ले जाते थे और जो बत्स गोपालक की गोद में भी वहाँ जाने के योग्य नहीं होते थे उनका भोज्य घर लाकर खिलाया जाता था ।^२ व्यवहारभाष्य से भी ज्ञात होता है कि गोपालक चरागाहों में पशुओं की जंगली जानवरों और सम-विषम स्थानों से रक्षा करते हुए चरते थे ।^३ कौटिलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि गोपालक पशुओं के गले में घंटी बांध देते थे जिससे एक तो पशु कहाँ है इसका पता लग जाता था दूसरे घंटी की आवाज से साँप आदि जीव भाग जाते थे ।^४ आवश्यकचूर्ण से ज्ञात होता है कि एकबार एक जंगल में महावीर तपस्यारत थे वहीं पर एक गोपालक अपने पशुओं को भी चरा रहा था । कुछ देर पश्चात् उसके पशु दूर जंगल में पहुँच गये अपने पशुओं को वहाँ न पाकर उसने महावीर से पूछा, महावीर मौन थे गोपालक ने उनको पशु-चोर समझ कर उनके कान में कीलें ठोक दीं ।^५ पशुओं से प्राप्त दूध और तद्वर्णित दही तथा घी का व्यापार होता था । आभीर घी-पूर्ण घड़े लेकर नगरों में व्यापार हेतु जाते थे ।^६ वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि आभीर के घड़े गाड़ियों में भरकर चम्पा नगरी में व्यापार के लिये ले जाये गये थे ।^७ बृहत्कल्पभाष्य में ग्वालों द्वारा सप्ततीक मटकों में घी भरकर विक्रयार्थ नगरों में ले जाने का उल्लेख है ।^८

जैन ग्रन्थों में यातायात के लिये भी पशुओं का बड़ा महत्त्व बताया गया है । माल और सवारी वहन करने के लिये हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट और गधों का प्रयोग किया जाता था ।^९

१. गोत्रहृत्स पटागा, सयं पयातस्स पड्डयति वेगं—बृहत्कल्पभाष्य, भाग '१, गाथा ५२०२
२. “जा गोणी ण तरति उट्ठेउं तं गोवो उट्ठवेति अड्ढवि चरणट्ठा नेति, जा ण तरति गंतुं गिहे आणेउं पयच्छति” —निशीथचूर्ण भाग २, गाथा १८९३
३. व्यवहारभाष्य ४/३६
४. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/२९/४६
५. आवश्यकचूर्ण भाग १, गाथा २७०
६. बृहत्कल्पभाष्य भाग १, गाथा ३६१
७. वसुदेवहिण्डी भाग १, पृ० १३
८. बृहत्कल्पभाष्य भाग १, गाथा ३६१
९. वही, भाग ३, गाथा ३०६६

सेना में हस्तिसेना का बड़ा महत्त्व था। सोमदेव के अनुसार राजाओं की विजय और शत्रु का संहार हस्तियों पर निर्भर करता था। दुर्गमपथ भी गजों के लिये सुगम होते थे। घाटरहित नदियों को भी हाथी सुगमता से पार कर लेते थे।^१ कौटिल्य ने भी युद्ध हेतु हाथियों के महत्त्व को स्वीकार किया था।^२ जंगल में हाथियों को पकड़ा जाता था उन्हें पकड़ने की विधि का वर्णन पिंडनियुक्ति में मिलता है। उनके आवागमन के मार्गों पर गड्ढे खोदकर उन्हें घास-पात से आच्छादित किया जाता था। घूमते हुये हाथी उसमें गिर जाते थे और इसप्रकार बांध लिये जाते थे।^३ हथिनी को एक स्थान पर बांधकर भी जंगली हाथियों को आकृष्ट किया जाता था।^४ जंगली हाथियों को पकड़कर उन्हें शिक्षित करने के उल्लेख आये हैं। हाथी को पहले सूंड से लकड़ी पकड़ने का अभ्यास कराया जाता था। फिर छोटे पत्थर, फिर गोली और अन्त में सरसों पकड़ने का अभ्यास कराया जाता था।^५

ऊंट भी पोषित पशु थे। ये भार ढोने और सवारी के काम आते थे। निशीथचूर्णि में एक उष्ट्रपाल के पास इक्कीस ऊंट होने का उल्लेख है।^६ आचारांग से ज्ञात होता है कि ऊंट के बालों से वस्त्र भी बनाये जाते थे।^७

गधों की गणना भी पोषित पशुओं में थी। ये मुख्य रूप से भार ढोने के काम में लाये जाते थे। बृहत्कल्पभाष्य में एक कुम्हार द्वारा गधे पर बर्तन लादकर दूसरे स्थान पर ले जाने का उल्लेख है, परन्तु अधिक भार होने के कारण उस थके, क्रुद्ध गधे ने कुम्हार के सब बर्तनों को तोड़ दिया।^८

चमड़े और मांस प्राप्ति के लिये भी पशुओं का पालन किया जाता था। जंगली जानवरों के शिकार हेतु कुत्तों की सहायता ली जाती थी।

१. सोमदेवसूरि-नीतिवाक्यामृतम् २२/३१

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र २१२ २०

३. पिंडनियुक्ति गाथा ८३

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र २ ३२/४८

५. बृहत्कल्पभाष्य भाग १, गाथा २३१

६. निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ३६९७; बृहत्कल्पभाष्य भाग ५, गाथा ५२१७

७. आचारांग २/५/१।१४१

८. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १५२७

कुत्तों की सहायता से शिकार करना “सोणिय” कहा जाता था। शिकार को देखते ही कुत्ते आवाज करते हुए दौड़ते थे।^१

विपाकसूत्र से ज्ञात होता है कि छगलपुर में छन्नक नामक कसाई मांस प्राप्ति के लिये बकरोँ, भेड़ों, नीलगायों, वृषभों, शशकों, शूकरोँ, सिंहों, हरिणों आदि सैकड़ों पशु पालता था। वह पशुओं को अच्छा चारा देने तथा उनकी रखवाली आदि के लिये वेतन देकर कई नौकर रखता था। ये नौकर पशुओं का वध करके उनके मांस को राजमार्गों पर बेचते थे।^२ भेड़ों को हृष्ट-पुष्ट कर सर्वप्रथम हल्दी के रंग में रंगा जाता था। पुनः लाल रंग से चिह्नित कर उनको मार देने का उल्लेख है। अतिथि सत्कार में मेमने का मांस देने का भी उल्लेख है।^३ नगरों के बाहर “सूनागृह” होते थे, जहाँ कच्चा मांस बिकता था।^४ आवश्यकचूर्णि में एक सूनागृह का उल्लेख हुआ है जहाँ प्रतिदिन ५०० पशुओं का घात किया जाता था।^५ ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि कछुओं को भी चमड़े के लिये मारा जाता था।^६ मांस को सुखाकर भी रखा जाता था। निशीथचूर्णि में जहाँ मांस सुखाया जाता था उस स्थान को “मंसखल” कहा गया है।^७ वनवासी वन्य-पशुओं का शिकार करके अपनी आजीविका चलाते थे। प्रश्नव्याकरण में उल्लेख है कि पशुओं का शिकार करने वालों को ‘सोयरिया’, पक्षियों का शिकार करने वालों को “साउणिया” कहा जाता था।^८ शिकार करने के लिये लौह या दर्भ के फंदे, धनुष-बाण, गुल्ले और कूटजाल का प्रयोग किया जाता था।^९ सिंह को पकड़ने के लिये बकरी के मृत बच्चे को बांधकर उसे आकृष्ट किया जाता था और जब वह बकरी पकड़ने के लिये आता तो उसे फंसा लिया जाता था।^{१०}

१. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १५८५

२. विपाकसूत्र ४/३

३. निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४३४९

४. निरयावलिया १/३०

५. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० १६९

६. ज्ञाताधर्मकथांग ४/३

७. “मंसखलंगं जत्थ मंसं सोसंति”—निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ३४८१

८. प्रश्नव्याकरण, १/२०

९. वही, १/२०

१०. वही, १/२०

पशुओं से मांस के अतिरिक्त उनका चर्म, अस्थि, मज्जा, नख, शृंग, दांत, पंख, केश और विष की प्राप्ति होती थी।^१ यथा हस्तियों से उनका दांत, सिंह से चर्म और चमरी गाय से नर्म केशों की प्राप्ति होती थी।^२ कुवलयमालाकहा से ज्ञात होता है कि विन्ध्यपर्वत की म्लेच्छ पल्ली में उज्ज्वल चांदी के ढेर सदृश वनहस्तियों के दांतों का ढेर लगा था। घास की तरह चमरी गायों के बाल बिखरे पड़े थे। मोरपंख के मंडप सजाये गये थे। महिष, बैल, गाय एवं जंगली जानवरों को मारने के कारण वहां की भूमि रक्तरंजित हो रही थी।^३

भेड़, बकरी और ऊंट के बालों से ऊन तैयार किया जाता था।^४ हाथीदांत के लिये हाथियों का शिकार किया जाता था।^५ इस कार्य के लिये भीलों को अग्रिम धन दिया जाता था।^६ वस्त्र रंगने में पशुओं की मज्जा का प्रयोग किया जाता था।^७ पशुओं के चमड़े का वस्त्र के रूप में भी प्रयोग किया जाता था। जैन साधुओं के लिये पाँच प्रकार के चर्म धारण करने का विधान है। बृहत्कल्पभाष्य में अजिन, भेड़, गो, महिष और मृगचर्म का उल्लेख हुआ है।^८ सिन्धु देश का चर्मोद्योग प्रसिद्ध था। जिसमें पेसा (सिन्धुदेश में उत्पन्न विशेष चूहे का चर्म) उद्रा (विशेष मत्स्य) नीलमृग, श्वेतमृग, कृष्णमृग, सिंह और चीते के चर्म विशेष प्रसिद्ध थे।^९ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी हिमालय के बाह्य प्रदेश में पाये जाने वाले सामूर, चीतसी और सामूली चर्म का उल्लेख हुआ है।^{१०}

पशुओं से राज्य को प्रभूत आय होती थी।^{११} इसीलिये पशुपालन की

१. प्रश्नव्याकरण, १/११

२. दन्ता हस्त्यादीनां चम्मा वग्घादीणं वाला चमरीणं,

निशोथचूर्णि भाग २, गाथा १०३२

३. सूरि उद्योतन—कुवलयमालाकहा, पृष्ठ ४२

४. आचारांग २/५/१/१४१

५. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० १७०

६. वही, २/१५४

७. प्रश्नव्याकरण १/१२

८. बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, गाथा ३८२४

९. आचारांग २/५/१/१४५

१०. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/११/२९

११. सरि सोमदेव-नीतिवाक्यामृतम्, १९/२३

ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। पशुओं के चारे के लिये राज्य की ओर से प्रायः प्रत्येक गाँव की बाह्य सीमा पर चरागाह बनाये जाते थे।^१ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी ऊसर भूमि पर चरागाह बनाने का उल्लेख है।^२ आचारांग में उल्लेख है कि सुलभता के अनुसार पशुओं को चरागाह बदल-बदल कर चराया जाता था। जंगलों में घास के लिये सुरक्षित भूमि पर जैन साधुओं को यत्नपूर्वक चलने का निर्देश दिया गया है।^३

पशु और उनकी चरागाहें राजकीय आय की साधन थीं। डा० जगदीश चन्द्र जैन ने आवश्यकवृत्ति के आधार पर कृषि सम्बन्धी १८ प्रकार के करों का उल्लेख किया है।^४ जिनमें पशु कर और चरागाह पर लगने वाला “जंघाकर” भी था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार मौर्ययुग में पशु और चरागाह की व्यवस्था के लिये ‘गो-अध्यक्ष’ और ‘विवीताध्यक्ष’ नामक अधिकारी नियुक्त थे।^५ जो राज्य के पशुओं की देखभाल करवाते थे और राज्य के लिये पशु-कर और चरागाह-कर एकत्रित करते थे।

प्रश्नव्याकरण से ज्ञात होता है कि पशुओं को गर्म लोहे से चिह्नित कर उनकी पूँछ, कान आदि छेदित कर और उनके वर्णों के आधार पर उनका पंजीकरण कराया जाता था।^६ पोषित पशुओं के रोगों के निदान और उनकी चिकित्सा की परम्परा अति प्राचीन है। अशोक ने पशुओं के लिये चिकित्सालय और औषधालय खुलवाये।^७ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि वैद्य ने एक सिंह की रुग्ण आँखों की चिकित्सा अंजन लगा-

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४, गाथा ३३२३

२. अकृष्यायाभूमौ पशुवयो विव्रीतानि प्रयच्छेत् ।

कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/२/२०

३. आचारांग २/३/३/१२७; बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, गाथा ३३२३;

आवश्यकवृत्ति भाग १, पृ० २९६

४. जैन जगदीश चन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ ११२

५. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/२९/४६, २/३५/५३

६. प्रश्नव्याकरण १/१२

संघदासगणि—वसुदेवहिण्डी, भाग २, पृ० २९७

७. प्रियदर्शी अशोक का द्वितीय लेख गिरनार, ए० के० नारायण, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, पृष्ठ ५

कर की थी ।^१ अहिंसा प्रधान होने के कारण जैन धर्म पशुओं के साथ भी कोमल व्यवहार पर बल देता था यथा पशुओं को भूखा-प्यासा रखना, उन्हें भरपेट भोजन-चारा न देना, उनकी सामर्थ्य से अधिक कार्य लेना, कृषि के लिये उन्हें बधिया बना देना, पहचान के लिये चिह्नित करने के उद्देश्य से तप्त लोहे से दागना या नाक, कान, पूँछ आदि काट लेना अहिंसाव्रत के अतिचार माने गये हैं ।^२ सोमदेव के अनुसार जो व्यक्ति अपने पशुओं की स्वयं देखभाल नहीं करता वह महान् पाप का भागी होता है और उसकी आर्थिक क्षति होती है ।^३

कुक्कुट पालन

यद्यपि जैन ग्रन्थों में व्यवसाय के रूप में कुक्कुट पालन का कोई संकेत नहीं मिलता, किन्तु यत्र-तत्र पक्षियों के अंडों का उल्लेख है । निशीथचूर्णि से सूचित होता है कि मयूर और कुक्कुट पाले जाते थे किन्तु यह कर्म बड़ा अप्रशस्त और निन्द्य माना गया था ।^४

विपाकसूत्र में पुरिमताल नामक नगर के अण्डों के व्यापारी निर्णय का वर्णन आया है । अंडों को एकत्रित करने के लिये उसके नौकर प्रतिदिन पुरिमताल नगर के बाहर जंगलों में जाते थे और वहां उलूकी, कपोती, बकी, कुक्कुटी, मयूरी आदि के अण्डों को पकाकर और बांस की पिटारियों में भरकर राजमार्ग पर बेचने के लिये जाते थे ।^५

मत्स्य पालन

जैन सिद्धान्तों के अनुसार मत्स्य पालन जोविका की दृष्टि से न तो प्रशंसनीय था और न ही धार्मिक । विपाकसूत्र में इसप्रकार के व्यवसायों को निम्न कोटि का बताया गया है ।^६ प्राचीनकाल में आज की भाँति व्यापारिक स्तर पर कृत्रिम रूप से मत्स्यपालन की तकनीक का प्रचलन नहीं

१. “वग्धो अच्छिरोगेण गहिओ, तस्स वेज्जेण वड्डियाए अक्खोणि अंजेऊण पउणीकताणि” निशीथचूर्णि, भाग २, गाथा ५९८

२. प्रश्नव्याकरण, १/१२, २/११;
उपासकदशांग १/३२; दशवैकालिक ७/२४

३. सोमदेवसूरि-नोतिवाक्यामृतम् ८/८

४. “मयूर कुक्कुडपोसगा कम्मजुंगिता” निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ३७०८

५. विपाकसूत्र ३/२०

६. वही, ८/३, ८

हुआ था अपितु नदियों, तालाबों और झीलों में अपने आप जो मछलियां पैदा होती थीं उन्हें को पकड़ा जाता था।^१ विपाकसूत्र से ज्ञात होता है कि मछुआरों को अपना अरुग बस्तियां होती थीं।^२ शौर्यदत्त मछुआरे का मत्स्यपालन व्यवसाय इतने बृहद्स्तर पर था कि उसने बहुत से नौकर नियुक्त कर रखे थे।^३ विपाकसूत्र में वर्णित मित्र राजा का श्रेयक नामक रसोइया अपने भृत्यों द्वारा “श्लक्ष्ण” (छोटी मछलियां) और “पताका-तिपताका” (विशेष मछलियां) नामक मछलियां पकड़वाकर राजा के लिये भोजन तैयार करवाता था।^४

मछली पकड़ने की विविध विधियां प्रचलित थीं। प्रथमतः मछली पकड़ने के लिये मुख्यरूप से लोहे के कांटों और सूत-निर्मित जालों का प्रयोग किया जाता था।^५ लोहे के गलकांटों पर आटे के पिंड या मांस के टुकड़े फंसाकर धागे की सहायता से उसे पानी में छोड़ा जाता था और प्रलुब्ध मछली जैसे ही उसको खाने को बढ़ती कांटा उसके गले में फंस जाता और इसप्रकार फंसी हुई मछली को मछुआरे बाहर खींच लेते।^६ मछली पकड़ने के लिये कभी-कभी नदी, सरोवर और झील के जल को आलोडित-विलोडित किया जाता, कभी उस पर बांध निर्मित कर दिया जाता, तो कभी पानी को सुखाकर मछलियां पकड़ने का प्रयत्न किया जाता।^७ ज्ञात होता है कि मछली पकड़ने वाली टोकरी जैसी एक विशेष प्रकार की नौका होती थी। शौर्यदत्त के भृत्यों द्वारा यमुना में इन छोटी-छोटी नौकाओं से विभिन्न प्रकार की मछलियां पकड़ने का उल्लेख है।^८ तृतीयतः बड़े-बड़े चादरों जैसे वस्त्रों के दोनों छोरों को पकड़ कर जल के

१. विपाकसूत्र, ६/१९

२. वही, ८/३

३. “तते णं तस्स सोरियमच्छंधस्स वहवे पुरिसा दिन्नभत्ति भत्तवेयणा”

वही, ८/१९

४. वही, ८/११

५. प्रश्नव्याकरण, १/२०

६. गलो दंडगस्स अंतो लोहकंटगो कज्जति तत्थ मंसपेसी कीरति सो दीहरज्जुणा बद्धो मच्छट्ठा जले खिप्पइ कूंडमियादीणं अट्ठा णिक्खिप्पइ ।

निशीथचूर्णि भाग २, गाथा ८०५

७. विपाकसूत्र ८/१९

८. वही

अन्दर डुबाकर मछली सहित बाहर निकालते थे और मछलियों को छानकर पकड़ लेते थे ।^१ चतुर्थतः “नागफनी” का दूध जल में डालते थे जिनकी गंध से मछलियां जल के ऊपर आ जाती थीं और उन्हें पकड़ लिया जाता था ।^२ पंचमतः वृक्षों की शाखाओं से जल का विलोडन करते थे जिससे मछलियां व्याकुल होकर ऊपर आ जाती थीं और पकड़ ली जाती थीं ।^३ इन मछलियों को किनारों पर लाकर सुखाया भी जाता था ।^४ जहाँ मछलियों को सुखाया जाता था उसे “मच्छखल” कहा गया ।^५ विपाकसूत्र से ज्ञात होता है कि शौर्यदत्त के वेतनभोगी भृत्य, मत्स्यों को झूलाप्रोत कर पकाते, भूनते तथा उन्हें विक्रयार्थ राजमार्गों पर रखकर अपनी आजोविका चलाते थे ।^६



१. विपाकसूत्र ८/१९

२. वही

३. वही

४. वही

५. निशीथचूर्णि भाग ३, पृ० २२२

६. विपाकसूत्र, ८/२०

चतुर्थ अध्याय उद्योग-धन्धे

आर्थिक जीवन में उद्योगों का महत्त्व

यद्यपि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भी भारत में कृषि प्रधान व्यवसाय थी, परन्तु कुटीर उद्योग भी अत्यन्त विकसित अवस्था में थे। दशवैकालिकचूर्णि में उद्योगों से अर्थोपार्जन करने का उल्लेख है।^१ आवश्यकचूर्णि में कहा गया है कि जब भोगयुग के बाद कर्मयुग का आरम्भ हुआ तो ऋषभदेव ने अपनी प्रजा को विभिन्न प्रकार के शिल्प सिखाये। उन्होंने सर्वप्रथम कुम्भकार का कर्म सिखाया। उसके बाद वस्त्र प्रदान करने वाले कल्पवृक्षों के क्षीण होने पर पटकार-कर्म और गृहमुख प्रदान करने वाले कल्पवृक्षों के अभाव में वर्धकी-कर्म (गृह-निर्माण कला) सिखाया, तत्पश्चात् चित्रकर्म, फिर रोम, नख-वृद्धि होने पर नापितकर्म आदि सिखाये।^२ कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि नगर उद्योगों के केन्द्र थे, राजा सिद्धार्थ के यहाँ नगर शिल्पियों द्वारा निर्मित सुन्दर और बहुमूल्य वस्तुओं का बाहुल्य था।^३ प्रश्नव्याकरण में उल्लेख है कि नगरवासी कुशल शिल्पियों द्वारा निर्मित सुन्दर वस्तुओं का उपयोग राजा करते थे।^४ औद्योगिक श्रम

शिल्पकलाओं में निपुणता प्राप्त करने हेतु लोग शिल्पाचार्य के समीप जाते थे।^५ वसुदेवहिण्डो के अनुसार कोवकास ने शिल्प-शिक्षा यवन देश जाकर ग्रहण की थी। वहाँ के आचार्य से काष्ठकर्म भलीभाँति सीखकर वह ताम्रलिप्ति आया था।^६ कोवकास बड़ई की शिल्प कला से

१. सिप्पेण अत्थो उवज्जिणज्जई,—दशवैकालिकचूर्णि, पृष्ठ १०२

२. “एवं ता पढम कुंभकारा उपपन्ना, इमाणि सिप्पाणि उप्पाएव्वाणि तत्थ पच्छा वत्थ रुक्खा परिहोणा ताएउणत्तिका उप्पाइया पच्छा गेहागार परिहोणा ताए वड्डति उप्पाइता पच्छा रोमनखाणि वड्डति ताहे कम्मकरा उप्पाइता णहाविय य एवं सिप्पसयं सिप्पाण उपपत्ति” आवश्यकचूर्णि, १/१५६

३. कल्पसूत्र ६३

४. प्रश्नव्याकरण ४/४

५. दशवैकालिकसूत्र ९/१३, १४

६. संघदासगणि-वसुदेवहिण्डो १/६२

राजा काकजंघ अत्यन्त प्रसन्न हुआ और अपने पुत्र की शिल्प शिक्षा का दायित्व उसे सौंप दिया था ।^१ दीर्घनिकाय की टीकाओं में एक शिल्प विद्यालय का उल्लेख आता है जो कपिलवस्तु के आम्रोद्यान में स्थित था और जिसके विशाल भवन में विविध शिल्पों की शिक्षा प्रदान की जाती थी ।^२ शिल्प सीखने के लिये या तो गुरु को द्रव्य देना पड़ता था या शिक्षा काल तक गुरु के घर पर रहकर उसका कार्य करना पड़ता था ।^३ जातककथा से ज्ञात होता है कि राजा ब्रह्मदत्त का पुत्र एक हजार मुद्रा लेकर गुरु के पास शिल्प सीखने गया था । वह रात को गुरु से शिक्षा लेता और दिन में उनके गृह-कार्य करता ।^४ अधिकतर शिल्प वंशपरम्परागत थे । शिल्पी को व्यावसायिक कौशल उत्तराधिकार में प्राप्त होता था । प्रायः पिता ही शिक्षक होता था और उसकी कर्मशाला ही शैक्षणिक प्रतिष्ठान होती थी । जब पिता की शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती तो वही व्यवसाय पुत्र संभाल लेता था । निशीथचूर्णि में उल्लेख है कि शिल्पी उन्हीं वस्तुओं के निर्माण को चेष्ट करते थे जिनके निर्माण से उन्हें पर्याप्त लाभ होता था ।^५

प्रायः सभी प्रकार के शिल्पी अपने-अपने व्यवसाय के संरक्षण एवं संवर्धन के प्रति सचेष्ट थे । इसी कारण वे निगम, संघ, श्रेणी, पूग और निकाय जैसे संगठनों में संगठित थे ।^६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में शिल्पियों की १८ श्रेणियों का वर्णन है^७—

१. कुम्भार (कुंभकार—मिट्टी के वर्तन बनाने वाले)
२. पटइल्ला (तंतुवाय, पटेला-रेशम बनाने वाले)

१. संघदासगणि—वसुदेवहिण्डी, भाग १, पृ० ६२
२. सत्यकेतु विद्यालंकार-भारत का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ ३३३
३. आदिगृहणातो विज्जामंतजोगा सिक्खंतो सिक्खवेत्तस्स केवगादि दव्वं देति, सो य जति तेण एवं उव्वद्धो जाव सिक्खा ताव तुम ममायत्तो—निशीथ-चूर्णि, भाग ३, गाथा ३७१४
४. तिलभुवितजातक-आनन्द कौसल्यायन, जातककथा, ३/८
५. निशीथचूर्णि भाग ३ गाथा ४४१९
६. ज्ञाताधर्मकथांग ८/११८; बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १०९१; भाग ४, गाथा ३९५९; आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० ८१
७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ३/१०

३. सुवर्णकारा (स्वर्णकार -- सोने का काम करने वाले)
४. सूवकारा (रसोइये)
५. गंधला (गन्धर्व-गायक)
६. कासवगा (नाई)
७. मालाकारा (माला बनाने वाले)
८. कच्छकारा (माली)
९. तम्बोलिया (ताम्बूल-पान बेचने वाले)
१०. चम्मरु (चर्मकार)
११. जंतपीलग (कोल्हू आदि चलाने वाले)
१२. गंछिय (अंगोछे बनाने वाले)
१३. छिपाय (कपड़े छापने वाले)
१४. कंसवारे (ठठेरे--बर्तन बनाने वाले)
१५. सीवग (दर्जी)
१६. गुआर-गोपाल (ग्वाले)
१७. भिल्ला (व्याध, शिकारी)
१८. धीवर (मछुआरे) ।

स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय करने की अपेक्षा श्रेणी या संघ में काम करना अच्छा माना जाता था । एक तो श्रेणियां सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करती थीं, दूसरे सामूहिक रूप से काम करने से लाभ भी सुरक्षित था । इस प्रकार मध्यस्थों द्वारा शोषित होने की आशंका नहीं रहती थी, फलस्वरूप उद्योग के विकास हेतु उचित वातावरण बन जाता था । विशेष राजकीय उत्सवों पर राजा इन श्रेणियों का सम्मान किया करते थे । राजा श्रेणिक ने पुत्रजन्म के अवसर पर १८ श्रेणियों और उपश्रेणियों को आमन्त्रित कर सम्मानित किया था ।^१ रामायण के अनुसार भी राम के प्रस्तावित यौवराज्याभिषेकोत्सव में अमात्य और पौरजनों के साथ निगमों के प्रतिनिधि भी आमन्त्रित थे ।^२ ये श्रेणियां राजसभाओं पर भी न्यूनाधिक प्रभाव रखती थीं । श्रेणियों द्वारा निर्मित नियम आगमों के रचनाकाल में राज्य द्वारा भी स्वीकार किये जाते थे । श्रेणियां आवश्यकतानुसार न्याय की मांग के लिये राजसभाओं में भी जाती थीं । ज्ञाता-धर्मकथांग से ज्ञात होता है कि जब युवराज मल्लीकुमार ने क्रोधित

१. ज्ञाताधर्मकथांग १/७०

२. वाल्मीकि रामायण, २/१४१४०

होकर एक चित्रकार को मृत्युदण्ड दिया तो श्रेणी उसे समुचित न्याय दिलाने हेतु राजसभा में गयी। फलतः राजा ने मृत्युदण्ड के स्थान पर चित्रकार का अंगूठा काटकर उसे राज्य से निर्वासित कर दिया।^१ अपने नियम के अनुरूप कार्य न करने वाली श्रेणी को दण्ड भी मिलता था। ज्ञाताधर्मकथांग के एक प्रसंग से ज्ञात होता है कि मल्लीकुमारी के पिता ने कुण्डल बनाने में असमर्थ सुवर्णकार श्रेणी को निर्वासित कर दण्डित किया था।^२

उद्योगशालायें

उद्योगों के लिये भूमि का कोई अभाव नहीं था। नगरों और गांवों के बाहर पर्याप्त भूमि थी, जहां शिल्पशालायें अथवा कर्मशालाएं बनायी जाती थीं और वहां शिल्पी अपना कार्य करते थे।^३ बृहत्कल्पभाष्य से इन शालाओं पर प्रकाश पड़ता है। लोहारों की शाला “कर्मारशाला” “समर” और “आयस” कही जाती थी, तंतुवाय की शाला “नन्त-कशाला” कही जाती थी और स्वर्णकार की शाला “कलाशाला” कही जाती थी।^४ नगर का वातावरण दूषित न हो, इसलिये उद्योगशालायें नगर के बाहर हुआ करती थीं।^५ भगवतीसूत्र में उल्लेख है कि महावीर नालन्दा के बाहर तंतुवाय की शाला में ठहरे थे।^६ श्रावस्ती के बाहर हलाहल कुम्भारी की शिल्पशाला में गोशालक ठहरा था।^७

औद्योगिक पूँजी

ईसा पूर्व भी उद्योगों के लिए कुछ पूँजी की व्यवस्था आवश्यक होती थी। किन्तु उस समय के उद्योगों में आजकल की तरह बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता नहीं होती थी, अपितु वे लघु और कुटीर

१. ज्ञाताधर्मकथांग ८।१२९, १३०

२. ते सुवण्णागार निव्विसेए आणायेइ वही, ८।१०६

३. “जत्थ कम्मविज्जंति सा कम्मंतसाला”, निशीथनूणि भाग २, पृष्ठ ४३३

४. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३ गाथा २९२९; उत्तराध्ययनचूर्णि १।२६

५. “सद्दालपुत्तस्स पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया पंचकुम्भकारावणसया”

उपासकदशांग, ७।८

६. “रायगिह नगरे नालंदा बहिरिया तंतुवाय साला”, भगवतीसूत्र, १५।२२

७. “कोल्लाग संनिवेसस्स बहिय पणियभूमि” वही, १५।४

उद्योगों के रूप में ही प्रचलित थे। उद्योगकर्ता अपनी स्वयं की पूंजी से ही उद्योग चला लेते थे।^१

देश की वन-सम्पदा, खनिज-सम्पदा, कृषि और पशुधन की समृद्धि के कारण उद्योगों को कच्चा माल नियमित रूप से उपलब्ध होता रहता था। वस्त्र-उद्योग, काष्ठ-उद्योग, चर्म-उद्योग तथा वास्तु-उद्योग के लिये कच्चे माल की आपूर्ति वन से ही हो जाती थी। कृषि से वस्त्र, खांड तेल, मद्य आदि उद्योग चलते थे। खनिज सम्पदा से धातु-उद्योग में उन्नति हुई थी। यातायात की सुविधा के कारण कच्चा माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक सुलभता से पहुँचाया जा सकता था। यातायात की सुविधा के कारण उद्योगों से उत्पादित वस्तुओं के वितरण में भी सुविधा थी।

राजा की निजी उद्योगशालायें भी हुआ करती थीं। **आचारांग** से ज्ञात होता है कि एक बार राजा श्रेणिक ने यान, वल्कल, कोयले और मुंजदर्भ के शालाध्यक्षों को बुलाया था।^२ इसी प्रकार **कौटिलीय अर्थशास्त्र** से भी राज्य की उद्योगशालाओं पर प्रकाश पड़ता है।^३

कुटीर और लघु उद्योगों के अतिरिक्त चक्रवर्ती राजाओं द्वारा बड़े उद्योग चलाने के उल्लेख भी जैन ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। **स्थानांग** से ज्ञात होता है कि चक्रवर्ती की भौतिक सुख-सुविधाओं के लिये नव निधियां होती थीं।^४ इनमें पहली निधि काल (कालनिधि) में ग्रन्थ लेख और राज्य सम्बन्धी प्रमाण सुरक्षित रखे जाते थे। दूसरी महाकाल (महाकाल निधि) में विभिन्न प्रकार के आयुध तैयार किये जाते थे, तीसरी सव्वरयण (सर्वरत्न निधि) में रत्नों को संशोधित किया जाता था, चौथी पंडुय (पाण्डु निधि) में सब धान्यों और रसों के भण्डारण और उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाता था, पाँचवीं महापउम (महापदम निधि) में सूती और रेशमी वस्त्रों का निर्माण और उनको विविध रंगों में रंगने का कार्य किया जाता था, छठीं पिंगल (पिंगल निधि) में स्त्री-पुरुष, हाथी-घोड़े आदि के आभूषणों का निर्माण किया जाता था, सातवीं माणवग (प्रद-

१. उपासकदशांग, ७।४

२. आचारांग २।२।२।८; दशाश्रुतस्कन्धदशा १०

३. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/१०/३२. २/२३/४०

४. स्थानांग ९/२२,

क्षिणावर्त निधि) में सोना, चाँदी, लोहा, मणि, मुक्ता, स्फटिक आदि का शोधन होता था, आठवीं णेसप्प (नैसर्प निधि) में नगर के पथ, सेतु, भवन आदि का निर्माण किया जाता था और नवीं संख (शंख निधि) में अन्तःपुर सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था की जाती थी। डॉ० नेमिचन्द्र ने इन निधियों की तुलना आधुनिक उद्योगशालाओं से की है।^१

प्रमुख उद्योग

१—वस्त्र-उद्योग

विभिन्न प्रकार के वस्त्रों और उन पर किये गये चित्रांकन के सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि आगमिक काल में वस्त्र-उद्योग अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि सुन्दर, सुकोमल और पारदर्शी वस्त्रों का निर्माण होता था। वस्त्र इतने हल्के होते थे कि नासिका के उच्छ्वास से भी उड़ जाते थे।^२ इन वस्त्रों पर स्वर्ण और रजत के तारों से भाँति-भाँति की आकृतियाँ बनायी जाती थीं। मेघकुमार की माता रानी धारणी के उत्तरीय के किनारों पर सोने के तार से हंस बनाए गए थे।^३ आचारांग में भी स्वर्ण-खचित वस्त्रों का उल्लेख हुआ है।^४ जैन साहित्य में चार प्रकार के उपकरणों से बने वस्त्रों के उल्लेख मिलते हैं। आचारांग में पाँच प्रकार के वस्त्र-जंगिय (ऊनी वस्त्र), भंगिय (रेशमी वस्त्र), सणिय (सन अथवा वल्कल से बने वस्त्र) पोतग (ताड़पत्र के रेशों से बने वस्त्र), खोमिय (तूलकण, कपास और ओक के डोडों से बने वस्त्र) का उल्लेख मिलता है।^५ जिन्हें जैन साधु धारण कर सकते थे। दूसरे बहुमूल्य वस्त्रों के उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि समाज में सूती, रेशमी, ऊनी और चर्म-वस्त्रों का प्रचलन था।

१. जैन, नेमिचन्द्र—तीर्थङ्कर महावीर और आचार्य परम्परा, पृष्ठ ५२

२. नास तीसासवायवोज्जं चक्खुहरं कणफरिसजुत्तं ह्यलालपेलवातिरेगं
धवलं कणगलचियंतकम्मं दुगूलमुकुमालवउत्तरिज्याओ।

[ज्ञाताधर्मकथांग १/३३; भगवती ९/३३/५७]

३. वही

४. आचारांग

५. “जगिय वा भंगिय वा सणियं वा पोतगं वा खोमिय वा चूलकड्वा”

आचारांग २/५/१/१४१

(क) सूती वस्त्र

कपास, सन, बाँस, अतसी आदि पौधों के रेशों से सूती वस्त्र निर्मित होते थे।^१ बृहत्कल्पभाष्य में सूती कपड़ा बनाने की विधि का वर्णन करते हुये कहा गया है कि “सेडुग” (कपास) को औटकर बीज रहित किया जाता था। फिर धुनकी (पीजनी) से धुनकर (पींजकर) धुनी हुई (पूनी) रुई तैयार की जाती थी।^२ “नालब” उपकरण की सहायता से सूत को भूमि पर फैलाकर आड़ा-तिरछा करके ताना बुना जाता था, फिर “कडजोगी” (वस्त्र बुनने की खड्डी), से वस्त्र तैयार किया जाता था।^३ नन्तकशाला में अर्थात् जहाँ जुलाहे वस्त्र बुनते थे, भाड़े पर श्रमिक भी रखे जाते थे।^४ जैन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि सूत प्रायः स्त्रियाँ कातती थीं। बृहत्कल्प-भाष्य में एक ऐसी वृद्धा का उल्लेख है जो मोटा सूत कातती थी।^५ जैन साधुओं को कपास ओटती हुई स्त्री से भिक्षा लेने का निषेध किया गया था।^६ जातककथा में भी स्त्रियों द्वारा महीन सूत कातने के वर्णन आये हैं।^७ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी राज्य के कारखानों में विधवाओं, अपाहिजों, भिक्षुणियों, वृद्ध, राजपरिचारिकाओं तथा दासियों द्वारा सूत कातने का उल्लेख है।^८ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि दुकूल वस्त्र निर्मित करने के लिये दुकूल वृक्ष की छाल को ओखली में पानी के साथ कूटा जाता था, फिर उससे सूत तैयार किया जाता था।^९ अंसुय (अंशुक)

१. निशीथचूर्णि भाग २ गाथा ६४५

२. सेडुय सए पिंजिय, येलु गाहाणे य—बृहत्कल्पभाष्य भाग ३ गाथा २९९६
निशीथचूर्णि भाग २ गाथा १९९२

३. कडजोगि एक्कओ वा, असईए नालबद्धसहिओ वा निष्काए उवगरणं, उभओ-
पक्खस्स पाओग्गं —बृहत्कल्पभाष्य भाग ३ गाथा २९९७

४. जैन, जगदीश चन्द्र —प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० २०५

५. बृहत्कल्पभाष्य, भाग १ गाथा १७१

६. पिंडनियुंक्ति, गाथा ६०५

७. महोवसन्तरजातक, आनन्द कौसल्यायन, जातककथा, ६/५४२

८. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/२३/४०

९. दुगल्लो रुक्खो तस्स बागो धेते उद्धल्ले कुहिज्ज ति

निशीथचूर्णि, भाग २, पृष्ठ ३९९

नाम का वस्त्र जो अधिक मुलायम होता था दुकूल वृक्ष की भीतरी छाल से निर्मित किया जाता था ।^१

(ख) रेशमी वस्त्र

आचारांग में रेशमी वस्त्रों को “भंगिय” कहा गया है ।^२ भंगिय वस्त्र वृक्षों के पत्तों पर पले विशेष कीड़ों की लार से बनता था । अनुयोगद्वार में अंडों से निर्मित रेशमी वस्त्रों को अंडज और कीड़ों की लार से बने वस्त्रों को “कीडज” कहा गया है ।^३ आचारांग में पांच प्रकार के रेशमी वस्त्रों का वर्णन आया है^४—

पट्ट : पट्ट वृक्ष पर पले कीड़ों की लार से निर्मित ।

मलय : मलयदेश में उत्पन्न वृक्षों के पत्तों पर पले कीड़ों की लार से निर्मित ।

अंशुक : दुकूल वृक्ष की भीतरी छाल के रेशों से निर्मित ।

चीनांशुक : चीन देश के ।

देशराग : रंगे हुए वस्त्र ।^५

कौटिलीय अर्थशास्त्र में नागवृक्ष, बड़हर, मौलसिरी तथा वटवृक्ष के पत्तों पर पले कीड़ों की लार से निर्मित वस्त्र को ‘पत्रोण’ कहा गया है । मगध में बना “मागधिक”, पुण्ड्र में बना “पौण्डरीक” और सुवर्णकुल्या में बना “सौवर्णकुल्या” कहलाता था ।^६ काशी का रेशमी वस्त्र अधिक बहुमूल्य होता था । महावीर को दीक्षा के समय एक लाख मूल्य वाला क्षौम वस्त्र पहनाया गया था ।^७

(ग) ऊनी वस्त्र

आचारांग में पशुओं के बाल से निर्मित ऊनी वस्त्रों को “जंगिय” कहा गया है ये पांच प्रकार के होते थे—मेसाणि—भेड़ के बालों से,

१. दुगुल्लातो अंभतरहिते जं उप्पज्जति तं असुय—आचारांग २/५/१/१४५

२. आचारांग २।५।१।१४५; निशीथचूर्णि भाग २, पृष्ठ ३९९

३. अनुयोगद्वार २।८।३८

४. आचारांग २।५।१।१४५

५. किरिडयलाला मलयविसए मलयाणि पत्ताणि कोविज्जति”

निशीथचूर्णि, भाग २, पृष्ठ ३९९

६. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।१।२९

७. आचारांग २।१५

उटणि—ऊँट के बालों से, मिगाईणाणि—मृग के बालों से, पेसाणि—चूहे जैसे जीव तथा पेसलाणि—विदेशी पशुओं के बालों से बने वस्त्र ।^१ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि रालग उत्तम प्रकार का ऊनी वस्त्र था जो मुख्यतः ओढ़ने के काम आता था ।^२ प्रश्नव्याकरण में कम्बलों में रत्न कम्बल को श्रेष्ठ माना गया है ।^३

(घ) चर्मवस्त्र

मृग, भेड़, गौ, महिष और बकरे के चर्म के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था ।^४ सिन्ध देश के चर्मवस्त्र मूल्यवान होते थे ।^५

आचारांग से ज्ञात होता है कि उक्त वस्त्रों के अतिरिक्त सूक्ष्म, कोमल और बहुमूल्य वस्त्रों का भी निर्माण होता था, यथा—

साहिण अर्थात् सूक्ष्म और सौन्दर्यशाली
आय अर्थात् बकरे के खाल से निर्मित
काय अर्थात् नीली कपास से निर्मित
दुग्गल अर्थात् दुकूल के तन्तुओं से निर्मित
पट्ट अर्थात् पट्ट के तन्तुओं से निर्मित
अंसुय अर्थात् दुकूल वृक्ष की छाल के रेशों से निर्मित
देसराग अर्थात् रंगे हुए
गज्जफल अर्थात् स्फटिक के समान स्वच्छ
कोयव अर्थात् रोयेदार कम्बल
कम्बलग अर्थात् साधारण कम्बल और
पावारण अर्थात् लबादा से लपेटने वाले वस्त्र ।

वस्त्र व्यवसाय से सम्बन्धित शिल्पियों—रंगरेज, धोबी और दर्जियों का भी उल्लेख हुआ है । वस्त्रों की रंगाई-धुलाई का काम धोबी करते थे । धोबी की गणना १८ श्रेणियों में होती थी ।^६ वस्त्रों को पहले धोया जाता था, फिर विभिन्न रंगों से रंगा जाता था, फिर पत्थर आदि से

१. आचारांग २।५।१।१४९; निशीथचूर्णि, भाग २ गाथा ६४५

२. निशीथचूर्णि, भाग २ गाथा ६४५

३. प्रश्नव्याकरण ९।२

४. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३ गाथा ३८२३

५. आचारांग २।५।१।४५

६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ३/१०; प्रज्ञापना १/१०५, १०६

दबाकर सिलवटें दूरकर धूप से सुगन्धित किया जाता था। रंगीन वस्त्रों को देशराग कहा जाता था।^१ प्रश्नव्याकरण में कीड़ों से निकले रंग से रंगे वस्त्रों को कृमिराग कहा गया है।

मूल्य के आधार पर वस्त्र तीन प्रकार के थे। उत्तम वस्त्र का मूल्य एक लाख “स्वर्ग” और साधारण का १८ “स्वर्ग” था। इनके मध्य का वस्त्र मध्यम मूल्य का था। देश में जहाँ निम्नवर्ग के लोगों के लिये सस्ता और साधारण वस्त्र निर्मित किया जाता था वहीं सम्पन्न वर्ग की आवश्यकतानुरूप मूल्यवान और सुन्दर वस्त्रों का भी निर्माण किया जाता था।^२ इससे देश का तत्कालीन वस्त्रोद्योग उन्नत था ऐसा प्रतीत होता है।

वस्त्रोद्योग के प्रसिद्ध स्थान

यद्यपि वस्त्र देश के प्रत्येक भाग में तथा प्रत्येक ग्राम व नगर में बनते थे, पर कुछ स्थानों के वस्त्र विशेष प्रसिद्ध होते थे। महिस्सर देश को “बाहुत्थदेश” (बहुत वस्त्रों) वाला देश कहा गया है। वहाँ इतने सुन्दर वस्त्र बनते थे कि साधुओं को भी उत्तम वस्त्र पहनने को अनुमति थी।^३ महिस्सर देश की पहचान मध्य प्रदेश के निमाड क्षेत्र के महेश्वर के समीपवर्ती क्षेत्र से की जा सकती है। उस क्षेत्र में आज भी अच्छी कपास होती है और अधिक मात्रा में वस्त्र बनते हैं। पौंड्रवर्धन में मोटा और बारीक दोनों प्रकार का वस्त्र बनता था।^४ नेपाल, ताम्रलिप्ति, सिन्धु और सौवीर वस्त्रों के प्रसिद्ध स्थान थे।^५ लाटदेश के वस्त्र बहुत मूल्यवान माने जाते थे। पूर्व देश में उनकी प्राप्ति दुर्लभ थी।^६ कौटिलीय अर्थशास्त्र में मथुरा, कोंकण, कर्लिंग, बंग, कौशाम्बी आदि वस्त्रोद्योग के प्रसिद्ध स्थान कहे गये हैं।^७

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३ गाथा ३००

२. निशीथचूर्णि भाग २ गाथा ९५७

३. “बहुवत्थदेसे जहां महिस्सरे” निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ५०१२

४. निशीथचूर्णि, भाग ४ गाथा ५८२१

५. आचारांग २/५/१/१४५; बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४ गाथा ३९१२, ३९१४

६. यथा पूर्वदेशज वस्त्रं लाटविषयं प्राप्य दुर्लभं अर्घितं च”

निशीथचूर्णि, भाग २ गाथा ९५१

७. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/११/२९

जातककथा में उल्लेख है कि बनारस वस्त्रों के लिये प्रसिद्ध था। बनारस में क्षौममिश्रित कम्बल बनते थे। वहाँ की स्त्रियाँ महीन सूत कातती थीं।^१ जैनग्रन्थों में उत्तरापथ और दक्षिणापथ के व्यापारियों द्वारा परस्पर वस्त्रों के आदान-प्रदान करने के उदाहरण प्राप्त होते हैं।^२ भारत के वस्त्र विदेशों में भी निर्यात किए जाते थे।^३

२—धातु उद्योग

खानों और उनसे निकलने वाले खनिज पदार्थों के सम्बन्ध में प्राप्त सन्दर्भों से पता चलता है कि खनन क्रिया विस्तृत रूप से की जाती थी।^४ खान खोदने वाले श्रमिक “क्षितिखनक” कहे जाते थे।^५ देश की समृद्ध खनिज सम्पदा से धातु-उद्योग में भी पर्याप्त उन्नति हुई थी। धातु-उद्योग धनोपार्जन का साधन था। महाकालनिधि में धातुओं का शोधन होता था।^६ ज्ञाताधर्मकथांग से पता चलता है कि पुरुषों की सीखने की ७२ कलाओं में एक कला धातुवाद भी थी।^७ अम्ल से धातुओं का शोधन किया जाता था। धातु तथा औषधियों के संयोग से रासायनिक प्रक्रिया द्वारा स्वर्ण भी बनाया जाता था। निशीथचूर्णि में ताँबे को स्वर्ण के पानी से सिक्त करके स्वर्ण बनाने का उल्लेख है।^८ पीतल और कांसे के बर्तनों के उल्लेख से टीन और जस्ते के प्रयोग का संकेत मिलता है।^९

इस्पात बनाने के लिये लोहा ढाला जाता था। सूची (सुई) के उल्लेख

-
१. महावेस्सर जातक—आनन्द कौसल्यायन, जातककथा ६/५४२
 २. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ६ गाथा ६२४४
 ३. ज्ञाताधर्मकथांग १७/३
 ४. उत्तराध्यायन सूत्र ३६/७३-७६; बृहत्कल्पभाष्य, भाग ५ गाथा ५६८६; निशीथचूर्णि, भाग २ गाथा १०३१, १०३०
 ५. निशीथचूर्णि, भाग ३ गाथा ३७२०
 ६. धातुव्रातेण वा से अत्यं करेति, महाकालमंतेण वा से णिहि दरिसेति”
निशीथचूर्णि, भाग २ गाथा १५७७
 ७. ज्ञाताधर्मकथांग १/८५
 ८. “जेणं धातुपाणिणं तंबगादि आसित्तं सुवण्णादि भवति सो रसो भण्णति”
निशीथचूर्णि, भाग ३ गाथा ४३१३
 ९. आचारांग २/६/१/१५२

से इस्पात की सूचना मिलती है ।^१ धातुओं के परिशोधन तथा मिश्रित धातुओं के उत्पादन को कला से लोहार परिचित थे, लौह और स्वर्ण उद्योग धातु उद्योगों में प्रमुख थे ।

लौहोद्योग

लौह उद्योग आज के समान विस्तृत पैमाने पर नहीं था, अपितु कुटीर उद्योग के रूप में प्रचलित था । लौह का काम करने वाले को लौहकार या अयस्कार कहा जाता था । नगरों और गांवों में स्थान-स्थान पर लौहकारों की शालायें होती थीं, जिनको “समर” अथवा “अयस” कहा जाता था ।^२ महावीर विहार करते हुये कई बार इन लौहकार शालाओं में ठहरे थे ।^३ लोहारों का काम बहुत उन्नति पर था, वे कृषि के उपकरण, हल, कुदाल, फरसा, द्रांतियाँ, हँसिया आदि तथा साथ ही बहुत सी गृहोपयोगी वस्तुयें कैंची, छुरियाँ, सूइयाँ, नखछेदनी आदि भी बनाते थे ।^४ लोहार प्रातः ही भट्ठी जलाकर अपना कार्य आरम्भ कर देते थे ।^५ भगवतीसूत्र से ज्ञात होता है कि लोहा तपाने वाली भट्ठी में लोहे को डालकर तप्त किया जाता था । बीच-बीच में चमड़े की बनी हुई धौकनी से अग्नि को और अधिक प्रज्ज्वलित किया जाता था । इसके बाद प्रतप्त लोहे को लौह-निर्मित उपकरण सँडसी से आवश्यकतानुसार ऊँचा-नीचा किया जाता था । फिर प्रतप्त लोहे को एरण पर रखकर चर्मण्ट अथवा मुष्टिक (हथौड़े) से पीटा जाता था । पीटे हुये लोहे को ठंडा करने के लिये कुण्ड में डाला जाता था जिसे “द्रोणी” कहा जाता था । लोहार लोहे को पीट-पीटकर अत्यन्त पतला कर लेते थे और उससे अनेक प्रकार के युद्ध के उपकरण, मुद्गल, मुशंडि, करौत, त्रिशूल, हल, गदा, भाला,

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४ गाथा ३५३४

२. समरं नाम जित्थ हेट्ठा लोहयारा कम्मं करोति

उत्तराध्ययनचूर्णि, १/२६

३. आचारांग १/९/२/२

४. एगीकरेति परमुं णिव्वत्तेतिणखछेदणं अवरो । कुंत कणगे य वेज्जे, आरिय सूई

अ अवरो उ ।

बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४ गाथा ३९४३

५. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३ गाथा २५६०

६. भगवतीसूत्र, १६/९/७

तोमर, शूल, बछीं, तलवार, बसुला आदि निर्मित करते थे।^१ प्रायः प्रत्येक गाँव में लोहार होता था, पर सम्भवतः कच्चे माल की उपलब्धि और श्रमवैशिष्ट्य के कारण इन उद्योगों का स्थानीकरण भी हो गया था। जातककथा में लोहारों की ऐसी बस्तियों का उल्लेख है जिनमें ५०० लोहार निवास करते थे।^२ गुप्तकाल के लौहोद्योग की उन्नति का ज्वलन्त उदाहरण मेहरौली का लौह-स्तम्भ है जो सदियों से हवा-पानी के थपेड़े सहन कर रहा है, लेकिन आज तक उसमें कहीं भी जंग नहीं लगा।

स्वर्ण-उद्योग

जैन ग्रन्थों में सोने-चाँदी और मणियों के विविध कलापूर्ण आभूषणों तथा विभिन्न आकार-प्रकार के मणिरत्नों के बार-बार आये उल्लेख इस बात के प्रमाण हैं कि स्वर्णकारों का व्यवसाय उत्कर्ष पर था। स्वर्णकारों की गणना समाज के सम्पन्न वर्ग में की जाती थी। वे सोने की शुद्धता-अशुद्धता की पहचान करने में सक्षम थे। अच्छा सोना अग्नि में तपकर शुद्ध हो जाता था।^३ स्वर्ण को आग में तप्तकर फिर अम्ल से प्रक्षालित किया जाता था, तदुपरान्त पुनः अग्नि में डालने पर वह रक्तवर्ण का हो जाता था।^४

राजाओं के आसन, यान, पीठ, भवन आदि सोने-चाँदी के बनाये जाते थे। विविध प्रकार के मणिजटित भवन भी निर्मित किये जाते थे।^५ लोग सोने-चाँदी से निर्मित विविध आभूषण धारण करते थे। ज्ञाताधर्म-कथांग के अनुसार मेघकुमार को दीक्षा से पूर्व हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, प्रालम्ब, पाद, कटक, त्रुटित, केयूर, अंगद, मुद्रिकायें, कटिसूत्र, कुंडल, चूड़ामणि, मुकुट आदि आभूषणों से अलंकृत किया गया था।^६ अश्वों और हाथियों को भी सोने-चाँदी के आभूषणों से मण्डित किया जाता था।^७

१. प्रश्नव्याकरण, ३/५; निशीथचूणि, भाग १ गाथा ३/१९

२. सूची जातक-आनन्द कौसल्यायन, जातककथा, भाग ३ पृ० ४३४

३. उत्तराख्ययन २५/२९

४. औपपातिक, सूत्र ३३

५. ज्ञाताधर्मकथांग १/२५

६. वही १/२२८

७. औपपातिक सूत्र ४१

वसुदेवहिण्डी में उल्लेख है कि मथुरावासी अजितसेन ने जिनपाल स्वर्णकार के पुत्र को बुलाकर आभूषण निर्मित करने की आज्ञा दी थी।^१ इसी प्रकार आवश्यकचूर्णि से भी ज्ञात होता है कि स्वर्णकार किसी राजा के (तहखाने) में बैठकर भी रानियों के आभूषण तैयार करते थे। अन्धकार-युक्त वे भूतल मणि और रत्नों द्वारा प्रकाशित किये जाते थे^२, ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्णकारों द्वारा स्वर्ण-चोरी की आशंका से राजा भूधरों (तहखानों) में ही आभूषण बनवाते थे। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार स्वर्णकारों ने उन्नीसवें तीर्थङ्कर मल्लि की अत्यन्त जीवन्त स्वर्ण-प्रतिमा निर्मित की थी। इसी प्रकार एक बार मल्लिकुमारी का एक दिव्य-कुण्डल टूट गया। उसके पिता ने स्वर्णकारों को वैसा ही कुण्डल बनाने का आदेश दिया किन्तु वे सफल नहीं हो सके^३ जिससे क्रुद्ध राजा ने उनको अपने देश से निर्वासित कर दिया था। बृहत्कल्पभाष्य तथा निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि किसी पशुपालक को कहीं से स्वर्ण प्राप्त हुआ जिसे उसने एक स्वर्णकार को स्वर्ण-कुण्डल (मोरंग) बनाने के लिए दिया। स्वर्णकार ने लोभवश ताम्र-निर्मित कुण्डल पर स्वर्ण का पानी चढ़ाकर दे दिया।^४ इसी प्रकार की कटौती-चोरी के कारण ही समाज में स्वर्णकारों को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था, क्योंकि अवसर पड़ने पर वे बेइमानो करने से नहीं चूकते थे।

रत्नोद्योग

स्थानांग से सूचित होता है कि मणियों को खान से निकालकर शोधित किया जाता था।^५ बृहत्कल्पभाष्य में भी उल्लेख है कि वज्र, माणिक, इन्द्रनील आदि मणियों को काँट-छाँटकर सुन्दर रूप दिया जाता

१. संघदासगणि—वसुदेवहिण्डी भाग २ पृ० २९६

२. आवश्यकचूर्णि, भाग २ पृ० ५८

३. ज्ञाताधर्मकथांग ८/४१, ८/१०६

४. लोभेण मोरगाणं भञ्चम छेज्जेज्ज मा हु ते कन्ना । छादेमि णं तंवेणं

बृहत्कल्पभाष्य भाग ५ गाथा ५२२७ तथा

निशीथचूर्णि, भाग ३ गाथा ३७००

५. स्थानांग ९/२२

था। उनमें छेद करने के लिये उन्हें सान पर घिसा जाता था।^१ आचारांग के अनुसार मणि-मुक्ताओं से भाँति-भाँति के हार निर्मित होते थे।^२ ज्ञाता-धर्मकथांग से ज्ञात होता है कि राजगृह का नेद मणिकार बड़ा धनाढ्य था।^३ आवश्यकचूर्णि से ज्ञात होता है कि राजगिरि के एक मणिकार ने मणिरत्न-जटित सुन्दर बैलों की जोड़ी निर्मित की थी।^४

कल्पसूत्र तथा ज्ञाताधर्मकथांग में प्राप्त स्फटिक की भूमि वाले भवनों के उल्लेख से प्रतीत होता है कि स्फटिक उद्योग भी प्रचलित था।^५ इनके अतिरिक्त ताँबा, पीतल, सीसा, चाँदी, रांगा आदि धातुओं से भी विविध बर्तन निर्मित किये जाते थे।^६ धातुओं से सिक्के भी बनाये जाते थे।^७ सर्वप्रथम ताम्र का उल्लेख करने वाले स्ट्रैबो के अनुसार दानपात्र और स्वर्ण रखने के लिये बृहदाकार ताम्र-पात्र निर्मित किये जाते थे।^८

३—भाण्ड-उद्योग

आगमिक युग में मिट्टी के पात्रों का सर्वाधिक उपयोग होता था। पुरातात्विक उत्खननों में मृत्तिका पात्रों तथा उन पर विविध रंगों की चित्रकारी के जो अनेकशः उद्धरण प्राप्त होते हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में भाण्ड-कला अपने उत्कर्ष पर थी। 'मृणभाण्ड' बनाने वाले कुम्हार और धातु के बर्तन बनाने वाले कोलालिक कहे जाते थे।^९ कुम्हार का कर्म-स्थान "कुर्मारशाला" था। भगवान महावीर द्वारा सकडाल कुम्हार की शाला में आश्रय ग्रहण करने का उल्लेख प्राप्त होता

१. वंसण मणिमादियाण कट्ठादी—बृहत्कल्पभाष्य, भाग ५ गाथा ४९०५

मणियारा साणीए वसन्ति लगुडेण वेधं काउ—निशीथचूर्णि भाग २

गाथा ५०८

२. आचारांग २/२/१/७०

३. ज्ञाताधर्मकथांग १३/२८

४. आवश्यकचूर्णि, भाग १ पृ० २७२

५. कल्पसूत्र, सूत्र ३३; ज्ञाताधर्मकथांग १/१८

६. आचारांग २/६/१/१५२

७. पिंडनियुक्ति गाथा ४०५; निशीथचूर्णि, भाग ३ गाथा ४३/६

८. पुरी, बीजनाथ,—इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई ऐंशियंट ग्रीक राइटर्स पृ० ११६

९. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३/१०; प्रज्ञापना १/१०५

है।^१ कुम्हार मिट्टी तथा जल को मिलाकर उसमें क्षार तथा करीष मिलाकर मृत्तिकापिण्ड तैयार करता था। फिर उसे चाक पर रखकर दण्ड और सूत्र की सहायता से आवश्यकतानुसार छोटे-बड़े पात्र तैयार करता था। कुम्हार की पंचविध शालाओं का उल्लेख है। जहाँ बर्तन बनाये जाते थे उसे “कुम्भशाला” कहा जाता था, जहाँ जलाने के लिये तृण लकड़ी और गोबर के उपले रखे जाते थे उसे “इंधणशाला” कहा जाता था, जहाँ निर्मित बर्तन भट्ठी में पकाये जाते थे उसे ‘पचनशाला’ कहा जाता था, निर्मित बर्तनों को एकत्रित और सुरक्षित करने का स्थान ‘पणतशाला’ कहा जाता था।^२ जब बर्तन तैयार हो जाते थे तो उन्हें विविध प्रकार के रंगों से सजाया जाता था।^३

पोलासपुर के सकडालपुत्र का भाण्ड उद्योग बृहद् स्तर पर था। उसमें पूँजी-निवेश एक करोड़ स्वर्णमुद्राओं के लगभग था। नगर के बाहर उसकी ५०० दुकानें थीं। सैकड़ों वेतन भोगी नौकर थे। कुम्भकार पानी रखने के लिए घड़े, चपटे पेदे वाली मिट्टी की परात, मटके, छोटे मटके, सुराही तथा धान्य आदि रखने के पात्रों का निर्माण करते थे।^४ सकडालपुत्र की कर्मशालाओं के नगर के बाहर होने से ज्ञात होता है कि कुम्हार की शालाओं में भट्ठियों के जलने से होने वाले वायु-प्रदूषण और नगरवासियों को होने वाली असुविधा को ध्यान में रखकर कुम्भारशालायें नगर के बाहर स्थित होती थीं। बिक्री का कार्य राजमार्गों और चतुष्पथों पर किया जाता था। प्रायः आज भी मिट्टी के बर्तनों का विक्रय इन्हीं स्थानों पर होता है। निशीथचूर्णी से ज्ञात होता है कि विक्रय हेतु दूसरे गाँव या नगर में ले जाने पर बर्तनों पर शुल्क लगता था। एक भाण्ड-व्यापारी के पास बीस गाड़ी बर्तन थे, उसने एक गाड़ी बर्तन राज्याधिकारी को शुल्क में दिये थे।^५

१. उपासकदशांग, ७/१९

२. वही, ७/७; बृहत्कल्पभाष्य भाग १ गाथा ३०६

३. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४ गाथा ३४४५

४. “पारकम्मितरंगिते भायणे” निशीथचूर्णि भाग ३ गाथा ४५६१

५. उपासकदशांग, ७/४, ६, ७

६. निशीथचूर्णि भाग ४ गाथा ६५२१

मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त धातुओं के बर्तनों का भी प्रचलन था। लोहे, त्रपु, ताम्र, सीसे, कांसे और सोने-चाँदी के बर्तन निर्मित किये जाते थे।^१ शंख, शृंग, पत्थर और चर्म से भी बर्तन बनते थे।^२

४— काष्ठ उद्योग

प्राचीनकाल में काष्ठ का बहुत महत्व था। वनों से कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता था। जंगलों से लकड़ी आदि काटने के कार्य को “वणकम्म” की संज्ञा दी जाती थी। प्रातः होते ही रथकार अपनी गाड़ियाँ लेकर जंगलों में लकड़ी काटने हेतु प्रस्थान कर देते थे।^३ कुल्हाड़ी और फरसे की सहायता से वृक्षों को काटा जाता था।^४ लकड़ी को छीलकर, कोरकर, तराशकर तरह-तरह के नमूने बनाये जाते थे। इस कार्य को “कट्टकम्म” (काष्ठकर्म) कहा जाता था।^५ चक्रवर्ती के १४ रत्नों में एक वर्धकी रत्न भी था जो राज्य के लिये भवन, रथ, यान, वाहन आदि का निर्माण करता था।^६ लकड़ी से घरेलू उपकरण जैसे ओखल, मूसल, पीढ़े, रथ, पालकी आदि यान तथा कृषि उपकरण हल, जुआ, पाटा आदि बनाये जाते थे।^७ उस समय भवनों में पाषाण के साथ लकड़ी का प्रयोग बहुत अधिक होता था। भवनों के द्वार, गवाक्ष, सोपान, कंगूरे आदि काष्ठनिर्मित ही होते थे।^८ आजकल भी पहाड़ों पर जहाँ लकड़ी का बाहुल्य होता है, घर प्रायः लकड़ी के ही बने होते हैं। देवालियों के लिये काष्ठ-मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। कई बार जलते हुये दीपक से उनमें आग लगने के प्रसंग प्राप्त होते हैं।^९ यवन काष्ठ-कला में बड़े कुशल माने जाते थे।

१. आचारांग २/६/१/१५२

२. वही

३. बृहत्कल्पभाष्य भाग ३ गाथा २५६०

४. उत्तराध्ययन १९/६९

५. अनुयोगद्वार ८/११

६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति १६/२२

७. प्रदनव्याकरण १/१८

८. वही १/१८

९. बृहत्कल्पभाष्य भाग ४ गाथा ३४६५

वे काष्ठ-निर्मित-स्त्री मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर और सजीव बनाते थे ।^१ वसुदेव-हिण्डी से ज्ञात होता है कि कोवकास बड़ई ने यवनदेश के बड़ई आचार्यों से काष्ठकर्म की शिक्षा ली थी ।^२

जातककथा के अनुसार वाराणसी से कुछ दूर पर बड़इयों के गाँव थे । वे नौका द्वारा जंगल जाकर लकड़ी काटते थे और एकत्र कर नगर में ले आते थे, जहाँ आवश्यकतानुसार गृहनिर्माण की सामग्री बनाकर उनका विक्रय करते थे और कार्षापणों में पारिश्रमिक प्राप्त करते थे ।^३ गोशीर्ष चन्दन को लकड़ी अत्यन्त मूल्यवान मानी जाती थी ।^४ बड़ई रथ, यान आदि के निर्माण के लिये तिनिश की लकड़ी का प्रयोग करते थे जो वाहनों के निर्माण के लिये उत्तम मानी जाती थी, इस कार्य के लिये एरंड की लकड़ी उपयुक्त नहीं मानी जाती थी । संभवतः भारी और कमजोर होने के कारण यान-निर्माण में उसका उपयोग नहीं किया जाता था ।^५

५—वास्तु उद्योग

प्राचीनकाल में वास्तु उद्योग भी विकसित था । नगरों की संरचना, दुर्गीकरण, प्राकार, परिखा आदि तत्कालीन निर्माण-शैली के द्योतक हैं । नगर-निर्माण और विस्तार सुनिश्चित योजना पर आधारित होता था । नगरों में विस्तीर्ण सड़कें और उनको जोड़ने वाली छोटी-छोटी बीथियाँ बनाई जाती थीं । राजभवन को एक बड़ी सड़क जाती थी जिसे महापथ कहा जाता था । जैन साहित्य में “सिघाडग”-“तिग”-“चउक्क” “चत्वर” आदि का वर्णन आया है ।^६ तिराहे और तिमुहाणी “सिघाडग”; और चतुष्पथ और चौमुहानी को “चउक्क” कहा जाता था । जैन ग्रन्थों में वास्तु-विशेषज्ञों के वर्णन आये हैं जो राजमहल, भवन, तृणकुटीर, साधारण गृह, गुफा, बाजार, देवालय, सभामण्डप, प्याउ, आश्रम, भूमि-

१. वही भाग ५ गाथा ४९१५

२. वसुदेवहिण्डी भाग १ पृ० ६१-६३

३. अलनिचितजातक—आनन्द कौसल्यायन, जातककथा भाग २ पृ० १६०

४. व्यवहारभाष्य भाग १ गाथा ८८

५. बृहत्कल्पभाष्य, भाग १ गाथा २१६

६. औपपातिकसूत्र १

गृह, पुष्करिणी, बावड़ी, स्तूप आदि बनाते थे।^१ वास्तु उद्योग ने इतनी उन्नति कर ली थी कि वातानुकूल गृहों का भी निर्माण होता था।^२ मेगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र का राजमहल बहुत सुन्दर था। सूसा और एकबतना के राजमहल भी उसकी तुलना नहीं कर सकते थे।^३

६—खांड-उद्योग

जैन साहित्य के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय खांड-उद्योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्योग था। गन्ने की खेती प्रचुर मात्रा में होती थी। अतः गुड़ और शक्कर का निर्माण आर्थिक जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग थे, गन्ने से गुड़, खांड और राब का निर्माण होता था।^४ जहाँ गन्नों का संग्रह किया जाता था उसे “उच्छघर” अर्थात् इक्षुगृह कहा जाता था। दशपुर के इक्षुगृह में आचार्य ठहरते थे।^५ गुड़ बनाने का स्थान राज-प्रश्नीय सूत्र में “इक्षुवाड़े” (इक्षुगृह) कहा गया है। इक्षुगृह में गन्नों को काट-छांटकर उन्हें पत्र-रहित किया जाता था और इक्षुयंत्र से पेर कर रस निकाला जाता था।^६ इस यंत्र-विशेष को “इक्षुजत” कहा जाता था।^७

राजप्रश्नीय में इक्षुगृह में आने वाले यात्रियों को रस पिलाने का उल्लेख है। रस को उबालकर गुड़ निर्मित किया जाता था। गुड़ आगन्तुकों में भी वितरित किया जाता था।^८ गुड़ के अतिरिक्त खांड, काल्पी (मिश्री), चीनी तथा चीनी से अनेक प्रकार की वस्तुओं का

१. प्रश्नव्याकरण १/१४

२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३ गाथा २७१६

३. बैजनाथपुरी, इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई ऐंशियंट ग्रीक राइटर्स, पृष्ठ १४४

४. अनुयोगद्वार १/६६;

बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४ गाथा ३४६५

“फणिओ गुलो भण्णति छिड्डुगुडो खडहडो” निशीथचूर्णि भाग २ गाथा १५९३

५. व्यवहारभाष्य ८/२४२; निशीथचूर्णि भाग ३ गाथा ४५३६

६. राजप्रश्नीयसूत्र ४२

७. प्रश्नव्याकरण २/१३

८. राजप्रश्नीय १/२

निर्माण होता था। भारत से विदेशों को चीनी का निर्यात भी किया जाता था। भारतीय व्यापारी “कलिका द्वीप” में अन्य वस्तुओं के साथ चीनी भी लेकर गये थे।^१ सिकन्दर के साथ भारत आये यूनानी यात्रियों ने अपने भारत के यात्रा-वृत्तान्तों में ऐसे पौधों का उल्लेख किया है जिससे मधु मक्खियों के बिना शहद उत्पन्न होता था। अनुमानतः इनका अभिप्राय गन्ने से ही था। चीनी-निर्माण की प्रक्रिया से यूनानी उस काल तक अनभिज्ञ थे।^२

७—तेल-उद्योग

जैन साहित्य के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि आज की ही भाँति अलसी, एरण्ड, इंगुदी, सरसों, तिल आदि से तेल निकाला जाता था।^३ इस क्रिया को ‘जंतपीलण कम्म’ (यंत्रपीडन कर्म) कहा जाता था।^४ मुख्यरूप से खाने के अतिरिक्त तेलों का उपयोग औषधियों के रूप में भी होता था। विभिन्न प्रकार की औषधियों को मिश्रित कर तेल बनाये जाते थे। १०० औषधियों के साथ पकाये गये तैल को “शतपाक” कहा जाता था। शास्त्रकारों ने १०० बार पकाये जाने वाले तेल को भी शतपाक कहा है। इसी प्रकार सहस्र औषधियों में पकाये जाने वाले तेल को “सहस्रपाक” कहा जाता था। शतपाक और सहस्रपाक तेल बहुत मूल्यवान होते थे और जनसाधारण को सहज उपलब्ध नहीं थे। हंस को चीरकर उसका मल-सूत्र साफ करके उसके उदर में दवाइयाँ भरकर उसे तेलों में पकाया जाता था। इस प्रकार तैयार किये गये तेल को “हंसतेल” कहा जाता था।^५ इसका उपयोग औषधि के रूप में किया जाता था। इसी प्रकार एक और तेल था जो मरु प्रदेश के पर्वतीय वृक्षों से प्राप्त किया जाता था उसे ‘मरुतेल’ कहा जाता था।^६ शतपाक और सहस्रपाक

१. बहस्स खंडस्स य गुलस्स य सक्कराए य मच्छेड्डियाए य

ज्ञाताधर्मकथा १७/२२

२. बंजनाथपुरी, इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई ऐंनशियंट ग्रीक राइटर्स, पृष्ठ १०३

३. बृहत्कल्पभाष्य भाग १ गाथा ५२४

४. उपासकदशांग १/३८

५. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ५ गाथा ६०३०

६. वही, भाग ५ गाथा ६०३१

१४ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

तेलों के उल्लेख से स्पष्ट होता है उस युग में कि आयुर्वेद अत्यन्त उन्नत स्थिति में था ।

८—लवण उद्योग

लवण अर्थात् नमक का भोजन में सदा से महत्वपूर्ण स्थान रहा है । बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि नमक और मिर्च-मसालों से संस्कारित किया हुआ भोजन स्वादिष्ट हो जाता है ।^१ दशवैकालिक से ज्ञात होता है कि ऊसर भूमि की मिट्टी से नमक की प्राप्ति होती थी, समुद्र के पानी से भी नमक निकाला जाता था, इसी ग्रन्थ में संधा नमक, रोमा नमक (चट्टान का नमक) काला नमक, सफेद नमक तथा मिट्टी से प्राप्त नमक का उल्लेख है ।^२ कौटिलीय अर्थशास्त्र से भी नमक-उद्योग की पुष्टि होती है । “लवणाध्यक्ष” नामक राज्याधिकारी नमक व्यवहार का निरीक्षण करता था ।^३

९—मद्य उद्योग

मद्यपान विलास की वस्तु थी जिसकी गणना उत्तम प्रकार के पेयों में की जाती थी । पर्वों और उत्सवों के अवसरों पर सामान्य जनता भी मद्यपान कर लेती थी । कई प्रकार के ‘मद्य निर्मित किये जाते थे—यथा चन्द्रप्रभा, मणिशलाका, वरसीधु, वरवारुणी, पालनिर्याससार, पत्रनिर्याससार, पुष्पनिर्याससार आदि । इसी प्रकार सन्ध्या के समय तैयार होने वाली मधु, मेरक, जम्बूफल, दुग्ध, आति प्रसन्ना, तेलक, शतायु, खजूर सार, द्राक्षासव, कापिशायन, सुपवन आदि मदिराओं के भी उल्लेख मिलते हैं ।^४ कौटिलीय अर्थशास्त्र में मेदक, प्रसन्ना, आसव, अरिष्ट, मेरय और मधु का उल्लेख हुआ है ।^५ जिस स्थान पर मदिरा बनाई जाती थी, उसे “पाणागार” कहा जाता था ।^६ गुड़ निर्मित मदिरा को गौड़ी, व्रीहि

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २ गाथा १६११, १६१३

२. सिधवे लोणे रोमालोणे या आमये सामुद्दे पंसुखारे कालालोणे
दशवैकालिक ३/८

३. कौटिलीय अर्थशास्त्र २।१२।३०

४. जीवाभिगम ३।२।२१

५. कौटिलीय अर्थशास्त्र २।२५।४२

६. पाणागारं जत्थ पाणियकम्मं तामुरा-मधु-सीधु-खडगं मच्छडियं मुछिया
पाभित्तोणं पाणगाणि । निशीथचूर्णि भाग २ गाथा २५३४

आदि धान्यों से निर्मित मदिरा को पेष्टी, बांस के अंकुरों से बनी मदिरा को “बंशीण” तथा फलों से निर्मित मदिरा को “फलसुराण” कहा जाता था।^१ महाराष्ट्र में मद्य की दुकानों पर प्रतीक रूप में “झया” (ध्वजा) फहराई जाती थी।^२ पाणागार राजकीय आय के साधन भी थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार मद्य उद्योग पर राज्य का नियंत्रण था। मद्य बनाने वाले को राज्य से आज्ञा लेनी पड़ती थी और राज्य को कर देना पड़ता था। मद्य उद्योग का निरीक्षण करने वाले अधिकारी को “सुराध्यक्ष” कहा जाता था।^३

१०—चर्म उद्योग

जैन साहित्य के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि आगमों के रचनाकाल में चर्म तथा उससे निर्मित वस्तुओं का व्यापार बृहद् स्तर पर था। खालों को अनेक प्रकार के मुलायम चमड़ों में परिवर्तित किया जाता था। ऋषि, मुनि आदि मृगचर्म और व्याघ्रचर्म का उपयोग करते थे। जैन साधु भी विशेष परिस्थितियों में बकरे, भेड़, गाय और भैंस के चर्म का प्रयोग कर सकते थे।^४ चमड़े के बहुमूल्य वस्त्रों का भी प्रचलन था। आचारांग के अनुसार सिन्ध चमड़ों के लिये प्रसिद्ध था। वहाँ से पेसा, पेसल, नीले मृग और कृष्ण मृग के चर्म बाहर भेजे जाते थे। बाघ, चीते और ऊँट के चमड़े से चादरें निर्मित की जाती थीं।^५ जैन ग्रन्थों में चम्मकार (चमार) पदकार (मोची) आदि के वर्णन आये हैं जो वाद्य यंत्र, मशक जूते आदि वस्तुएँ बनाते थे।^६ निशीथचूर्णि में विभिन्न प्रकार के जूतों के उल्लेख आये हैं, जिनमें एक तल्ले, दो तल्ले, आधे तल्ले, घुटनों तक के, जंघाओं तक के, आधा पैर ढकने वाले, पूरा पैर ढकने वाले जूते थे।^७ कुणिक राजा के जूते कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित थे, जिनमें

१. बृहत्कल्पभाष्य भाग ४ गाथा ३४।२

२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४ गाथा ३५३९

३. कौटिलीय अर्थशास्त्र २।२५।४२

४. अये एल गावि महिस मियाण अजिण त्त पचम होइ

बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४ गाथा ३८२४

५. आचारांग २, ५।३।१४९

६. प्रज्ञापना १।१०६

७. एवापुड-सगल-कसिणं दुपडादीयं पमाणओकासिणां। कोसग-खेल्लग वग्गुरी, खप्पुसा जंघ एद्धजंघा य। निशीथचूर्णि भाग २ गाथा ९१४

वेदूर्य, रिस्ट एवं अंजन-रत्न खचित थे ।^१ यूनानी विद्वानों के अनुसार भी सफेद चमड़े के जूतों पर सुन्दर कढ़ाई की जाती थी ।^२

युद्ध में शरीर की रक्षा के लिये चमड़े के आवरण बनाये जाते थे । विविध वाद्य-मृदंग, झल्लरी, वितत, ढोल, तूनक, पखावज आदि के मुख चमड़े से मढ़े जाते थे ।^३ चमड़े से पानी भरने की मशकें और नदी पार करने के लिये चमड़े की दृति नामक छोटी सी नाव बनायी जाती थी ।^४ चमड़े से पाश और चाबुक बनाये जाते थे । चमड़ा प्राप्त करने के लिये नगरों के बाहर सूनागृह बनाये जाते थे, जहाँ पर पशुओं का वध करके चमड़ा तैयार किया जाता था ।^५ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी सूनागृहों का वर्णन है । सूनागृह के अधिकारी को सूनाध्यक्ष कहा जाता था ।^६ चमड़ा प्राप्त करने के लिये असंख्य प्राणियों का घात करना पड़ता था । इसलिये इस व्यवसाय को जैन-परम्परा में मान्यता नहीं दी गई है ।

११—हाथी दाँत उद्योग

उपासकदशांग से हाथी दाँत के उद्योग के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है । उपासकदशांग में वर्णित १५ कर्मदानों में छठा कर्मदान—“दन्त-वाणिज्य” था । हिंसा के कारण श्रावक के लिये यह व्यवसाय निषिद्ध था ।^१ हाथी दाँत के भवन बनाये जाते थे । उड़ीसा के दंतपुर के राजा द्वारा अपनी रानी हेतु निर्मित सम्पूर्ण प्रासाद ही हाथी दाँत का था । इसी प्रकार एक वणिक् ने अपनी पत्नी की दोहद पूर्ति हेतु हाथी दाँत के भवन निर्माण-हेतु भीलों से हाथी दाँत खरीदा था ।^२ रामायण में उल्लेख है कि कैकेयी का भवन हाथी दाँत की चौकियों तथा आसनों से युक्त था । इसी-

१. (ब्रिटिश-रिट्ठ-अंजन-निउणोविय-मिसिमिसंत गणि रयण मंडियाओ

पाडयाओ ओमपई ।

औपपातिक, पृष्ठ ११४

२. पुरो बैजनाथ, इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई ऐंशियंट ग्रीक राइटर्स, पृष्ठ ९०

३. आचारांग २, ११।१६८

४. निशीथचूर्णि, भाग १ गाथा १८५

५. निरयावालिका १।३०

६. कौटिलीय अर्थशास्त्र २।२६।४३

७. उपासकदशांग १।५१

८. निशीथचूर्णि, भाग ४ गाथा ६५७५; आवश्यकचूर्णि, भाग २ पृ० १७०

प्रकार लंका के प्रासादों में हाथी दाँत के स्तम्भ और गवाक्ष थे ।^१ जातक-कथाओं में काशी की एक दन्तकार वीथी का उल्लेख हुआ है जहाँ हाथी-दाँत का काम होता था । कभी-कभी हाथी-दाँत के लिये हाथियों का वध भी कर दिया जाता था ।^२ वाराणसी में राजघाट की खुदाई में हाथी-दाँत की कंधी और चूड़ियाँ प्राप्त हुई हैं^३ जिससे सिद्ध होता है कि घरेलू उपकरणों में हाथी-दाँत का उपयोग होता था ।

१२—चित्र-उद्योग

चित्रकार भी एक प्रकार के शिल्पी थे, वे अपनी चित्रकारी का प्रदर्शन भवनों, वस्त्रों, रथों और बर्तनों आदि पर किया करते थे ।

प्राचीन जैनसाहित्य में चित्रकला के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं । ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लिखित धारणी देवी के “शयनागार” की छत लताओं, पुष्पावलियों तथा उत्तम चित्रों से अलंकृत थी ।^४ मल्लिकुमार ने अपने प्रमदवन में एक चित्र सभा बनवाई और उसमें चित्रकार श्रेणी को बुलवा कर एक चित्रसभा बनाने हेतु आदेश दिया । चित्रकार तूलिकायें और रंग लाकर चित्र रचना में प्रवृत्त हो गये, उन्होंने भित्तियों का विभाजन किया, भूमि को लेपों से सजाया और उक्त प्रकार के चित्र बनाने लगे ।^५ उक्त सूत्र से पता चलता है कि उसी चित्रकार श्रेणी में एक चित्रकार इतना प्रवीण था कि किसी व्यक्ति के अंगमात्र को देखकर ही वह उसी जैसी प्रतिकृति बना सकता था ।^६ बृहत्कल्पभाष्य से भी ज्ञात होता है कि एक विदुषी गणिका ने अपनी चित्रसभा में विविध उद्योगों से सम्बन्धित चित्र बनवा रखे थे । जब कोई आगन्तुक चित्र-विशेष की ओर आकर्षित होता था तो वह उसकी वृत्ति और रुचि का अनुमान लगा लेती थी ।^७

१. वाल्मीकि रामायण २।१०।१५, ३।५५।१०

२. कासावजातक-आनन्द कौसल्यायन-जातककथा भाग २ पृ० १६०

३. डा० मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, पृष्ठ ६५

४. ज्ञाताधर्मकथांग १।८

५. वही ८।११७

६. वही ८।१२०

७. बृहत्कल्पभाष्य भाग १ गाथा २६२

१३—प्रसाधन-उद्योग

शृङ्गारप्रियता और विलासप्रियता के कारण प्रसाधन-उद्योग उन्नति पर था ।^१ राजा, सामन्त आदि समृद्ध वर्ग के लोगों के अतिरिक्त साधारण गृहस्थ भी सुगन्धित वस्तुओं का प्रयोग करते थे । इससे सुन्दरता में अत्यधिक वृद्धि हो जाती थी । चन्दन, तगर, कर्पूर, अगरु, कुंकुम आदि से विविध प्रकार के सुगन्धित तेल, इत्र, विलेपन आदि सौन्दर्यवर्धक प्रसाधन तैयार किये जाते थे ।^२ विविध सुगन्धित पदार्थों का लेप बनाया जाता था । लोह वृक्ष की छाल से भी अंगराग तैयार किया जाता था । इसको हाट द्रव्य कहा जाता था ।^३ सूत्रकृतांग से ज्ञात होता है कि लाक्षारस से भी स्त्रियों के अंगराग बनाये जाते थे । पावों को आलक्तक के समान लाक्षारस से रंगा जाता था और आँखों के लिये सुरमा निर्मित किया जाता था । स्त्रियों के सदा युवती दिखने के लिये विशेष प्रकार की गुटिका बनाई जाती थी ।^४ इसी प्रकार होठों को रंगने के लिए नन्दी चूर्ण बनाये जाते थे और दाँतों में चमक लाने के लिए दंत चूर्ण बनाये जाते थे ।^५ सुगन्धित द्रव्य बाजारों में विक्रय के लिये जाते थे । “गंधियावण” (गंधापण) में सब प्रकार के सुगन्धित पदार्थों की बिक्री होती थी । इनका विक्रय करने वाले “गंधी” कहे जाते थे ।^६

१४—रंग-उद्योग

जैन ग्रन्थों में कषाय, हरिद्र, मंजिष्ठ, रक्त, नील, पीत आदि रंगों का वर्णन आया है । प्राचीनकाल से ही वस्त्रों और चित्रों को रंगने के लिये तरह-तरह के रंगों का निर्माण किया जाता था । ज्ञाताधर्मकथांग से सूचना मिलती है कि तौलिये को केसर से रंगा जाता था ।^७ रंग, फल, कंद, मिट्टी और वृक्षों के रस से बनाये जाते थे । कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी

१. प्रश्नव्याकरण ४।४

२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २ गाथा २५५७

३. निशोथचूर्णि भाग ३ गाथा ४३४५, निशोथचूर्णि, भाग २ पृष्ठ २६

४. सूत्रकृतांग १।४।२ २८४, २८५, २८६

५. वही

६. निशोथचूर्णि भाग ३ गाथा ३०४७

७. ज्ञाताधर्मकथांग १।२४

कुंकुम, कुसुम्भ और किशुक के फूलों से रंग बनाने का वर्णन है।^१ कृमि-
राग से रक्त वर्ण तैयार किया जाता था।^२

१५—कुटीर-उद्योग

इन उद्योगों के अतिरिक्त और भी कुटीर उद्योग प्रचलित थे। डोम, (चण्डाल) कुहण आदि जंगली जाति के लोग सूप, टोकरियां, रस्से आदि बनाते थे। जंगली जानवरों को पकड़ने के लिये मुंज, काष्ठ, वेत्र, सूत्र आदि से रस्से बनाये जाते थे।^३ ऊन, मुंज, घास, ऊंट के बाल, सन आदि के रोम से साधुओं के लिये रजोहरण बनाये जाते थे।^४ ताड़, मुंज और पलाश के पत्रों से हाथ के पंखे बनाये जाते थे। इनके अतिरिक्त विविध खिलौनों का निर्माण किया जाता था। लकड़ी को कांट-छांटकर, चिकनाकर, चित्रकारी से, मिट्टी अथवा चूने से, धातु आदि को पिघलाकर सांचे में डालकर, कौड़ियों आदि से तरह-तरह के खिलौने बनाये जाते थे।^५ काष्ठकर्म और पुस्तकर्म से बनायी गई प्रतिमायें जघन्य, हाथी-दांत से निर्मित मध्यम और मणियों से निर्मित पुत्तलिकाएं उत्तम मानी जाती थीं।^६

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आगमों के रचना काल में उद्योग-धन्धे विकसित थे। कृषि और उद्योग में अपेक्षित समन्वय पाया जाता था।



१. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।१७।३५

२. प्रश्नव्याकरण, १।१।१२

३. वही १।१।२०

४. बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, गाथा ३६७४

५. अनुयोगद्वार, ८।११

६. बृहत्कल्पभाष्य भाग ३, गाथा २४६९

अध्याय ५

विनिमय

आर्थिक क्षेत्र में विनिमय का बड़ा महत्त्व है। लेन-देन, आदान-प्रदान अथवा एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु लेना विनिमय कहा जाता है। किसी मनुष्य के लिए अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुओं का निर्माण सम्भव नहीं है, इसलिए वह वस्तुओं का परस्पर विनिमय कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। विनिमय दो प्रकार से किया जाता है— (१) वस्तु से वस्तु की अदल-बदली और (२) वस्तु को द्रव्य के बदले ग्रहण या प्रदान अर्थात् क्रय-विक्रय। प्राचीनकाल में व्यापार की ये दोनों ही पद्धतियाँ प्रचलित थीं। वस्तु के विनिमय में कई प्रकार की कठिनाइयाँ आ जाती थीं, इसीलिए व्यापार के लिए मुख्यतः क्रय-विक्रय की पद्धति ही प्रचलित थी। जैन ग्रन्थों में उपलब्ध उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि कृषि और उद्योग की उन्नति से देश के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई फलतः देश का व्यापार उन्नत हुआ। विनिमय के प्रमुख अंग व्यापार, परिवहन और सिक्के थे। इनके अभाव में विनिमय सम्भव नहीं था। व्यापार में यातायात के साधन-परिवहन और सिक्कों का महत्त्वपूर्ण योगदान था। इसप्रकार तीनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था।

१-व्यापार

साधारणतः वस्तुओं का क्रय-विक्रय, व्यापार या वाणिज्य कहा जाता था।^१ उत्तराध्ययन में वस्तुओं का क्रय करने वाले को “कइयों” (क्रेता) और विक्रय करने वाले को “वणिओ” (वणिक) कहा गया है।^२ निशीथ-चूर्णि में विक्रय की जाने वाली वस्तुओं को “पण्य” और “क्रयाणक” कहा गया है।^३

१. निशीथचूर्णि भाग ३ गाथा ३२२६

२. “किण्तो कइयो होइ विक्किगंतो य वणिओ”

उत्तराध्ययन ३५/१४, भगवतीसूत्र ५/६/५

३. निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ३८४२

व्यापारी

जैन ग्रन्थों में दो प्रकार के व्यापारियों का उल्लेख प्राप्त हुआ है— (१) स्थानीय व्यापारी, (२) सार्थवाह ।^१ स्थानीय व्यापारियों की तीन कोटियाँ थीं—‘वणिक्’, गाथापति और ‘श्रेष्ठि’ । ये नगरों तथा गांवों में व्यापार करते थे । निशीथचूर्णि के अनुसार वणिक् बहुत चतुर होते हैं वे अल्प धन लगाकर प्रभूत लाभ प्राप्त करते हैं ।^२ जो स्थानीय व्यापारी एक ही स्थान पर या दुकान पर बैठकर व्यापार करते थे उन्हें ‘वणि’ कहा जाता था ।^३ जो बिना किसी निश्चित दुकान के एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते हुये व्यापार करते थे, उन्हें ‘विवणि’ कहा जाता था ।^४ जो गट्ठर में व्यापार की विभिन्न वस्तुएँ रख कर व्यापार करते थे, उन्हें ‘कक्खपुडिय’ कहा जाता था ।^५ ये पूरे वर्ष ग्रामों और नगरों में घूम-घूम कर अपनी सामग्री बेचकर व्यापार करते थे, लेकिन वर्षा ऋतु में अपना व्यापार बन्द रखते थे ।^६ कुछ सम्पन्न व्यापारी गाड़ियों में माल भर कर व्यापार हेतु निकलते थे किन्तु वर्षा ऋतु में वे भी व्यापार नहीं करते थे । निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि व्यापारी गाड़ियों में गेहूँ भर, दूसरे नगरों में व्यापार के लिये जाते थे ।^७ इसी प्रकार बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार आभीर घी बेचने के लिये नगर में जाते थे ।^८

१. ज्ञाताधर्मकथांग १५/६; वसुदेवहिण्डो १/१४५; उपासकदशांग १/१२;

निशीथचूर्णि भाग २, गाथा ७३५, भाग २, गाथा ५२२

२. जहा वणिअ अप्प दविणं चइउं बहुत्तरं लाभं गेण्हति

—निशीथचूर्णि भाग १, गाथा ४५

३. वणित्ति जे णिच्चट्ठिता ववहरंति

वही, भाग ४, गाथा ५७५०

४. “जे विणा आवणेण उभट्ठिता वाणिज्जं करंति”

वही, भाग ४, गाथा ५७५०

५. “कक्खपदेसे पुडा जस्स स कच्छपुडओ”

वही, भाग २, गाथा ११९१

६. कक्खपुडियवणिग्या गामेसु न संचरंति ।

वही, भाग ३, गाथा ३२२६

७. वही, भाग ४, गाथा ५६६४

८. बृहत्कल्पभाष्य, भाग १, गाथा ३६१

यद्यपि गाथापति और श्रेष्ठि भी स्थानीय व्यापारी ही थे, किन्तु ये थोक व्यापार करते थे। व्यापार के साथ-साथ ये धन के लेन-देन का व्यवसाय भी करते थे। समाज में सार्थवाह, श्रेष्ठि और गाथापति समृद्ध माने जाते थे और राज्य में इनका सम्मान होता था। **उपासकदशांग** से ज्ञात होता है कि महावीर का प्रमुख उपासक गाथापति आनन्द समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति था।^१ श्रेष्ठि, राज्य में सम्मानित व्यक्ति होता था उसे राजा की ओर से स्वर्णमुकुट प्रदान किया जाता था और वह १८ श्रेणियों का मुखिया भी होता था।^२

व्यापारियों का दूसरा वर्ग सार्थवाहों का था जो स्थल और जल मार्गों से भारत के आन्तरिक और विदेशी व्यापार को समृद्ध करते थे। व्यापार के उद्देश्य से एक साथ यात्रा करने वाले व्यापारियों का समूह “सार्थ” कहलाता था और सार्थ का नेतृत्व करने वाला सार्थवाह कहलाता था।^३

पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी कुशल व्यावसायिक होती थीं। **ज्ञाताधर्म-कथांग** में द्वारका नगरी की थावच्चा नामक सार्थवाही स्त्री का उल्लेख आता है जो राजकीय व्यवहार और व्यापार में कुशल थी।^४ इसी प्रकार **अनुत्तरोपपातिकदशा** में उल्लेख है कि काकन्दी नगरी की भद्रा सार्थवाही के पास अपरिमित सम्पदा थी। वह विक्रय योग्य पदार्थों को लेकर विदेश जाती थी। उसने अपने इकलौते पुत्र के लिये बत्तीस भवन निर्मित करवाये थे।^५

व्यापारिक संस्थान

व्यापार-स्थल प्रायः हाट या मण्डियाँ ही होती थीं। माल का क्रय और विक्रय सीधे उत्पादनकर्ता और उपभोक्ता के मध्य होता था। **निशीथचूर्णि** के अनुसार जो वस्तुएँ अपने उत्पत्ति के स्थान पर ही बेची जातीं, उन्हें “सदेसगामओ” कहा जाता था और जिन वस्तुओं को विक्रयार्थ

१. ज्ञाताधर्मकथांग २/१०; उपासकदशांग १/१३

२. अट्ठारसण्ह पगतीणं जो महत्तरो सेट्ठि।

निशीथचूर्णि, भाग २, गाथा १७३५

३. सत्थं वाहेति सो सत्थवाहो—निशीथचूर्णि, भाग २, गाथा १७३५

४. ज्ञाताधर्मकथांग ५/७

५. अनुत्तरोपपातिकदशा ३/१/२

दूसरे स्थान पर भेजा जाता उन्हें “परदेसगामओ” कहा जाता ।^१ वणिक् जिस स्थान पर वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे उसे “कोट्ट” कहा जाता था ।^२ बिक्री के लिये जहाँ वस्तुओं को एकत्रित किया जाता उसे निशीथचूर्णि में ‘साला’ कहा गया है ।^३ बाजारों को “विपणि मार्ग” कहा जाता था ।^४ औपपातिक से सूचित होता है कि चम्पा नगरी के बाजार व्यापारिक वस्तुओं और व्यापारियों के आवागमन के कारण भरे रहते थे ।^५ कुवलयमालाकहा में उल्लेख है कि विनीता नगरी के विपणि-मार्गों में जो व्यापार होता था वह बड़े-बड़े सार्थवाह और वणिक् पुत्रों के लिये पर्याप्त नहीं था इसलिए वे अन्यान्य मण्डियों में जाकर व्यापार करते थे ।^६ नगरों के प्रसिद्ध राजमार्गों और चौराहों पर दूकानें होती थीं जहाँ वस्तुओं का विक्रय किया जाता था । बृहत्कल्पभाष्य में उन्हें ‘अन्तरायण’ कहा गया है ।^७ ऐसे बाजार जिनके मध्य में और आगे-पीछे भी दूकानें हों उन्हें आपणगृह कहा जाता था ।^८ व्यापार में इतनी विशिष्टता आ गई थी कि अलग-अलग वस्तुओं को अलग-अलग दूकानें और बाजार होते थे । जहाँ चन्दन और दूसरी सुगन्धित वस्तुएँ बेची जाती थी उसे ‘गंधियावण’^९ कहा जाता था । बृहत्कल्पभाष्य में एक व्यापारी का उल्लेख आया है जो किसी गंधी की दुकान पर जाकर मदिरा मांगने लगा, गंधी ने कहा उसकी दुकान पर केवल सुगन्धित वस्तुएँ ही मिलती हैं, मदिरा नहीं ।^{१०} आज के सर्राफा बाजार की तरह प्राचीनकाल में भी सोना-चाँदी के अलग बाजार होते थे । जिन दुकानों पर मूसल आदि घरेलू उपकरण बेचे जाते थे उन्हें

१. अट्ठारसण्ह पगतीण जो महत्तरो सेट्ठि ।

निशीथचूर्णि, भाग २, गाथा १७३५

२. सत्थं वाहेति सो सत्थवाहो वही, भाग २, गाथा १७३५

३. “विक्केयं भंड जत्थ छूढं चिट्ठति” साला गिहं—

निशीथचूर्णि २, पृष्ठ ४३३

४. सूरि उद्योतन—कुवलयमालाकहा, पृष्ठ २६

५. औपपातिक १/१

६. सूरि उद्योतन—कुवलयमालाकहा, पृष्ठ ७

७. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गा० २३०

८. वही.

९. गंधियावणे चंदणादियं—निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ३०४७

१०. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १९६५

“नौशत्या” कहा जाता था।^१ जहाँ बर्तनों की बिक्री होती थी उसे ‘पाद-भूमि’ या “वनभूमि” कहा जाता था।^२ जहाँ सुरा, मधु, सीधु, खडग, मच्छडियं आदि विभिन्न प्रकार की मदिराओं की बिक्री होती थी उन्हें ‘मज्जावण’ या ‘पानभूमि’ कहा जाता था।^३ जहाँ सब मिष्ठान्तों की बिक्री होती उसे “पुडियघर” कहते थे।^४ इसी प्रकार ‘चक्रिकशाला’ में तेल, ‘गौलिशाला’ में गुड़, ‘दोसिशाला’ में दूध, ‘सौतियशाला’ में सूत, ‘बोधियशाला’ में तन्दुल (चावल) बेचे जाते थे।^५ ‘कुत्रिकापण’ में सब प्रकार की छोटी-बड़ी उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त हो जाती थीं। राजा श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार के दीक्षोत्सव पर वहाँ से रजोहरण और भिक्षा पात्र मंगवाये गये थे।^६ कुत्रिकापण की तुलना आजकल के बड़े-बड़े ‘डिपार्टमेंटल स्टोर’ के साथ की जा सकती है। अलग-अलग वस्तुओं की अलग-अलग दुकानों और बाजारों के अस्तित्व से प्रतीत होता है कि व्यापार बृहद्स्तर पर होता था।

स्थानीय व्यापार का अन्य केन्द्र व्यापारिक मण्डियाँ थीं जहाँ व्यापारियों को समस्त सुविधायें प्रदान की जाती थीं।^७ निशीथचूर्णि से ज्ञात है कि ताम्रलिप्ति और आनन्दपुर ईसा की सातवीं शताब्दी की प्रमुख व्यापारिक मण्डियाँ थीं।^८ ताम्रलिप्ति के कुछ प्राचीन उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। कुवलयमालाकहा से ज्ञात होता है कि दक्षिणपथ में प्रतिष्ठान और सोपारक, मण्डियों के रूप में प्रसिद्ध थे। जिस व्यापारिक मण्डी में विभिन्न दिशाओं से विक्रय हेतु माल लाया जाता था उसे ‘पुटभेदन’ कहा जाता था।^९ बौद्धग्रन्थ मिलिन्दपञ्चो में ‘सागल’ (स्यालकोट) को

१. प्लेसिथिएसु मुसलिमादियं—निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ३०४७

२. वही, २/२५३४

३. वही, २/२५३४

४. प्लेसिथिएसु खज्जगविसेसो—निशीथचूर्णि ३/३०४७

५. व्यवहारसूत्र ९/१९-२९

६. ज्ञाताधर्मकथांग १/१२२, बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, गाथा ४२१६

७. सूरि उद्योतन—कुवलयमालाकहा, पृ० ६५

८. निशीथचूर्णि, भाग २, गाथा २००३

९. नाणादिसागयाणं भिज्जंति पुडाः उ जत्थ भंडाणं। पुडभेयणं

बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १०९३;

निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ४१२८

‘पुटभेदन’ कहा गया है वहाँ अनेक स्थानों से विक्रयार्थ माल के गट्ठर आते थे।^१ जहाँ पर व्यापारी अपनी वस्तुओं का भण्डारण करते थे उस स्थान को ‘संवाह’ कहा जाता था।^२ संवाह में सामान गिरवी रखकर ब्याज पर ऋण प्रदान किया जाता था।^३ कई व्यापारियों का निवास-स्थान ‘निगम’ कहा जाता था।^४ निगम भी दो प्रकार के होते थे— १-संग्राहिक और २-असंग्राहिक। संग्राहिक निगम में सामान गिरवी रखने और ऋण देने का काम होता था और असंग्राहिक निगम में उधार देने के साथ-साथ अन्य व्यापारिक काम भी होते थे।^५ यात्रा के समय व्यापारी जिस स्थान पर पड़ाव डालते थे उसको ‘निवेश’ कहा जाता था।^६ वह नगर जो जलमार्गों पर स्थित थे उन्हें जलपत्तन कहा जाता था।^७ ऐसे नगर जो जल और स्थल दोनों मार्गों से जुड़े होते थे और जहाँ व्यापार के लिये दोनों मार्गों से माल लाने की सुविधा थी उन्हें ‘द्रोणमुख’ कहा जाता था^८ भृगुकच्छ और ताम्रलिप्ति द्रोणमुख थे।

नगरों और गाँवों के बाजारों में उपभोग की सभी सामग्रियाँ उपलब्ध थीं। दशवैकालिकसूत्र से ज्ञात होता है कि नगरों के मुख्य राजमार्गों और चौराहों पर सभी प्रकार की खाने-पीने की वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती थीं। वहाँ पर सत्तू, चूर्ण, तिलपट्टी, जलेबी, लड्डू, मालपुए आदि यथोचित मूल्य पर बेचे जाते थे।^९ चौराहों पर पके हुये मांस, मछली और अंडों की भी बिक्री होती थी।^{१०} दुकानों पर दैनिक उपभोग की वस्तुएँ—घी, तेल, धान्य, भाण्ड, घड़े, पीढ़े आदि के अतिरिक्त सोने-चांदी का भी

१. कश्यप जगदीश “हिन्दी अनुवादक” मिलिन्दपञ्चो, पृ० १-४

२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १०९२,

निशोथचूर्णि, भाग ३, गाथा ४१२८

३. संवासे अणुवट्टवितेण,

निशोथचूर्णि, भाग २, गाथा ३७६३

४. निगमं नेगमवग्गो,

बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १०९।

५. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १११०

६. निवेशो सत्थाइज्जा वा

वही; भाग २, गाथा १०९१

७. वही, भाग २, गाथा १०९०

८. द्रोणमुहं जल-थलपहेणं

वही, भाग २, गाथा १०९०

९. तहेव सत्तुचुण्णाइ, कोलवुण्वाइ आवेण सुक्कुलि पाणियं पूयं

दशवैकालिक ५/७१, ७२

विक्रय होता था ।^१ बहुमूल्य वस्तुएँ अगर, तगरपत्र, कुंकुम, कस्तूरी, शंख, लवण आदि का भी विक्रय किया जाता था ।^२ यह आश्चर्यजनक है कि उस युग में शंख और लवण बहुमूल्य माने जाते थे, बाजारों में निम्न, मध्यम एवं उत्तम सब प्रकार के वस्त्रों का विक्रय होता था ।^३ निशीथ-चूर्णि से ज्ञात होता है कि पिप्पली, हरिताल, मैन्सिल, लवण आदि सामग्रियां सैकड़ों योजन दूर से मंगाई जाती थीं ।^४ कुवलयमालाकहा से ज्ञात होता है कि विनीता (साकेत) के एक बाजार में ८४ प्रकार की वस्तुओं की दुकानें थीं, जिनमें एक ओर कुंकुम, कर्पूर, अगर, कस्तूरी, पडवास आदि सुगन्धित वस्तुएँ बेची जाती थीं, दूसरी ओर इलायची, लौंग, नारियल, मोती, स्वर्ण, रत्न, वस्त्र, नेत्रपट (एक विशेष प्रकार का पारदर्शी वस्त्र) सरस औषधियाँ, शंख, वलय, कांच, मणि, वाण, धनुष, तलवार, चक्र, माला, चामर, घंटा, खाद्य एवं पेय बेचे जाते थे ।^५ उपासकदशांग में वर्णित १५ कर्मदानों से प्रतीत होता है कि स्थानीय एवं विदेशी मंडियों में हाथीदाँत, विष, पशुओं का चर्म, लाख, लकड़ी आदि द्रव्यों का व्यापार होता था ।^६

माप-तोल विधियाँ

आवश्यकनियुक्ति में उल्लिखित है कि लेन-देन के व्यवहार की दृष्टि से ऋषभदेव ने यान, उन्मान, अवमान और प्रतिमान का भी अपनी प्रजा को ज्ञान कराया था ।^७ जैन ग्रन्थों में मूल्य-निर्धारण एवं क्रय-विक्रय की सुविधा हेतु चार प्रकार की पद्धतियाँ प्रचलित थीं—गणिम, धरिम, मेज्ज और पारिच्छ ।^८

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४, गाथा ४२५०

२. जई अंकम-कत्थूरिय-तगरपत्तचोय-हिगु-संखलोयमादि

निशीथचूर्णि, भाग ४, गाथा ५६६४

३. वही, भाग २, गाथा ९५७

४. हरितालमणोसिला जहा लोणं । एते पिप्पलिमादिणो जोयणसतातो आगयाह वही, भाग ३, गाथा ४८३४

५. सूर उद्योतन—कुवलयमालाकहा, पृ० १०८

६. उपासकदशांग १/३८

७. आवश्यकनियुक्ति गाथा २१३, २१४

८. गणिय-धरिम मेज्ज पारिच्छ

ज्ञाताधर्मकथांग ८/६६; निशीथचूर्णि, भाग १, गाथा २४२

गणिम—गिन कर बेची जाने वाली वस्तुएँ 'गणिम' कहलाती थीं। एक, दस, सौ, हजार, लाख, करोड आदि गणना के परिमाण माने जाते थे।^१ पूगफल, नारियल आदि वस्तुएँ गिन कर बेची जाती थीं।

धरिम—तुला पर तौल कर बेची जाने वाली वस्तुएँ 'धरिम' कहलाती थीं। ऐसी वस्तुओं का मूल्य निर्धारण मुख्यतः तौल के ही आधार पर किया जाता था। तेजपत्र, अगर, गंधद्रव्य, कुंकुम, खाँड, गुड़ आदि तौल कर बेचे जाते थे। अर्धकर्ष, कर्ष, पल, अर्धपल, तुला, अर्धभार, भार आदि तौल के मानक प्रचलित थे।^२

मेय—माप कर बेची जाने वाली वस्तुएँ 'मेय' कही जाती थीं। घी, दूध, वस्त्र, अन्न आदि माप कर बेचे जाते थे। माप तीन प्रकार के थे—धान्यमान, रसमान और अवमान। धान्यों को मापने के लिये असृति, प्रसृति, सेटिका, कुडव, प्रस्थ, आढक, द्रोण, कुम्भ, वाह आदि धान्यमान मगध में प्रचलित थे।^३ इनके अतिरिक्त मुक्तोलि, मुख, इदुर, आलिन्द, उपचारि आदि भी धान्यमान थे।^४ रसमान में चतुष्पष्टिका, द्वात्रिंशिका, षोडशिका, अष्टभागिका आदि थे। तेल, दूध, घी आदि इसी से मापे जाते थे।^५ हाथ, दण्ड, धनुष, युग, नलिका, अक्ष, मूसल आदि अवमान भूमि, खेत, भित्ति, कुएँ, कपड़ा, चटाई इत्यादि को मापने के लिये प्रयुक्त किये जाते थे।^६

परिच्छ—गुण की परीक्षा करके बेची जाने वाली वस्तुएँ परिच्छ कहलाती थीं इनमें सोना, चाँदी, मणि, मुक्ता, रत्न आदि माने गये थे। इनको तौलने के लिये गुंजा-रस्ती, कांकणी, निष्पाव, मंडल, सुवर्ण आदि प्रतिमान थे।^७

आवश्यकचूर्णि में एक प्राचीन परिपाटी का वर्णन करते हुये बताया गया है कि व्यापारी अपने माल का मूल्य हाथों को वस्त्रों से ढँककर

१. अनुयोगद्वार १७/१९०

२. वही, १४/१८९

३. वही १४/१८८

४. वही १४/१८८

५. वही १४/१९०

६. वही १४/१९०

७. वही १४/१९१

अंगुलियों के संकेत से करते थे। ताकि समीप बैठे हुए अन्य व्यापारियों को मूल्य ज्ञात न हो सके। उत्तरापथ की ढक्क जाति के लोग सोना, चाँदी, हाथीदाँत आदि लेकर व्यापार के लिये दक्षिणापथ जाते थे। वहाँ दक्षिणवासियों की भाषा न समझते हुये हाथ के संकेतों से मोल-तोल करते थे।^१

व्यापारी झूठे तौल और मापों से ग्राहकों को छलते थे।^२ झूठे तौल-माप को रोकने के लिये राज्य भी सतर्क, सावधान रहता था। **उपासक-दशांग** में कूट माप-तौल करने वाले व्यापारियों को दोषी माना गया है।^३ **भगवतीसूत्र** में कहा गया है कि कूटमाप-तौल करने वाले नरक में जाते हैं।^४ सोमदेव के अनुसार जिस राज्य में वणिक् लोग तराजू और बाँटों में धोखा करते हैं वहाँ का व्यापार नष्ट हो जाता है। इसलिये राजा को इसे रोकना चाहिये।^५ सामाजिक तौर पर इस बुराई को कम करने का प्रयत्न किया जाता था, **उपासकदशांग** से लेकर परवर्ती श्रावकाचार के जैन ग्रन्थों में कूट माप-तौल, वस्तुओं में मिलावट करना और नमूने के अनुसार वस्तु न देना अस्तेयव्रत के अतिचार (दोष) माने जाते थे। जैन श्रावकों को इनसे बचने का उपदेश दिया जाता था।^६

कौटिलीय अर्थशास्त्र भी स्पष्ट निर्देश देता है कि व्यापारी मिलावट और कम माप-तौल न करें, इसके लिये विशेष ध्यान रखना चाहिये। राज्य की ओर से एक अधिकारी पौतवाध्यक्ष नियुक्त किया जाता था जो इस प्रकार का अपराध करने वाले व्यापारियों को दण्ड देता था।^७ **मनुस्मृति** में भी व्यापारी को वस्तुओं में मिलावट करने का निषेध किया गया था।^८

१. "उत्तरावहे टंकणा णाम मेच्छा, ते सुवन्नदंतमादीहिं दक्खिणा वड्ढाड्ढं भंडाड्ढं गेण्हति ते य अवरोप्परं भासं न जाणेति पन्था पुंजे करोति हत्थेण अच्छादेति आव इच्छा न पूरेति ताव ण अवणेति" आवश्यकचूर्णि भाग १ पृ० १२०
२. "कूडतुला कूडमाणी" प्रश्नव्याकरण २/३
३. उपासकदशांग १/३४
४. भगवतीसूत्र, ८/९/१०४
५. सोमदेवसूरि—नीतिवाक्यामृतम् ८/९
६. 'कूडतुल्लं कूडमाणं' उपासकदशांग १/३४; प्रश्नव्याकरण २/३; निशीथचूर्णि भाग० १, गाथा ३२९
७. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/१९/३७
८. मनुस्मृति ८/२०३

क्रय के लिये अग्रिम धन

भगवतीसूत्र से ज्ञात होता है कि व्यापारी वस्तु-क्रय हेतु अग्रिम धन (बयाना) देकर अपनी वस्तु सुरक्षित भी कर लेते थे।^१ प्रश्नव्याकरण में भी मधु क्रय करने के लिये भीलों को अग्रिम धन देने का उल्लेख है।^२ आवश्यकचूर्णि से ज्ञात होता है कि हाथी-दांत क्रय करने के लिये पुलिंदों को अग्रिम धन दिया जाता था।^३ जातककथाओं में भी व्यापार के लिये अग्रिम धन देने के उल्लेख मिलते हैं।^४

मूल्य-निर्धारण

आज की ही भांति मांग और पूर्ति के अनुसार वस्तुओं के मूल्य निश्चित किये जाते थे। जिस वस्तु की मांग अधिक और पूर्ति कम हो पाता था उस वस्तु का मूल्य बढ़ जाता था। उत्सवों और पर्वों पर मांग के अनुसार वस्तुओं के उपलब्ध न हो पाने से उनके मूल्य बढ़ जाते थे।^५ बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि संखंडी सामूहिक भोज एवं मेला के अवसर पर दूध का मूल्य बढ़ जाता था।^६ इसी प्रकार इन्द्रमहोत्सव के समय फूलों और फूल-मालाओं की अत्यधिक मांग होती थी इस कारण उन दिनों उनके मूल्य में बहुत वृद्धि हो जाती थी। बृहत्कल्पभाष्य में एक माली का उल्लेख हुआ है जिसने इन्द्रमहोत्सव के कुछ दिन पूर्व ही अपनी फुलवारों से फूल चुनना बन्द कर दिया था ताकि वह उत्सव वाले दिन अधिकाधिक फूल ऊँचे मूल्य पर बेचकर अधिक लाभ अर्जित कर सके।^७ सुलभता और दुर्लभता का आधार पर मरकत, पद्मराग आदि रत्नों का मूल्य निर्धारित किया जाता था।^८ निशोथचूर्णि से सूचना मिलती है कि ऋतु के अनुसार भी वस्तुओं का मूल्य घटता-बढ़ता रहता था, ग्रीष्म ऋतु में महीन वस्त्र, शरद ऋतु में कम्बल और वर्षा ऋतु में कुंकुम से रंगे वस्त्र

१. भगवतीसूत्र ५/६/६

२. प्रश्नव्याकरण २/१३

३. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ. १५४

४. चुल्लसेठो जातक, आनन्द कौसल्यायन, जातककथा १/१५१

५. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १५९१

६. वही भाग २, गाथा १५९१

७. वही भाग २, गाथा १५९१

८. वही, भाग ४, गाथा ४२१६

महँगे हो जाते थे।^१ आवागमन के दुष्कर मार्गों और कठिनाइयों के कारण एक स्थान पर उत्पादित होने वाली वस्तु दूसरे स्थान पर महँगी बेची जाती थी यथा पूर्व देश में निर्मित वस्त्र लाट देश में महँगे बिकते थे।^२

व्यापारियों की परस्पर प्रतियोगिता के कारण वस्तुओं का मूल्य प्रभावित होता था और उन्हें वस्तु के मूल्य में कमी करनी पड़ती थी। परन्तु इसकी क्षति-पूर्ति वे मूल्यवान वस्तुओं में कम मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचने से कर लेते थे। ग्रन्थों में वस्तुओं में मिलावट करने के भी संकेत हैं।^३ वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण पर राज्य-नियन्त्रण के विषय में जैन आगम ग्रन्थों में कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। मेगस्थनीज के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में वस्तुओं के मूल्य पर समुचित नियन्त्रण हेतु एक सरकारी समिति होती थी। इस कारण कोई भी विक्रेता निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य नहीं ग्रहण कर सकता था और न ही नई की जगह पुरानी वस्तु बेच सकता था।^४ सोमदेव के अनुसार राज्य को आवश्यक वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करना चाहिये, जिससे व्यापारी मनमाने मूल्य बढ़ाकर प्रजा का शोषण न कर सकें, क्योंकि जहाँ व्यापारी, स्वेच्छा से मूल्य वृद्धि कर देते हैं वहाँ उपभोक्ताओं को बड़ा कष्ट होता है।^५ सोमदेवसूरि के अनुसार यदि व्यापारी वस्तुओं का मूल्य बढ़ा दें तो राजा का कर्तव्य है कि बढ़े हुए अतिरिक्त मूल्य को व्यापारी से छीन ले और बेचने वाले व्यापारी को केवल उचित मूल्य ही प्रदान करे।^६ वस्तुओं की मूल्य-वृद्धि पर नियन्त्रण हेतु उनके निर्यात पर रोक लगा दी जाती थी। बृहत्कल्पभाष्य में उल्लिखित कथा से ज्ञात होता है कि दन्तपुर के राजा ने अपने राज्य से हाथी-दाँत के निर्यात का निषेध कर दिया था।^७

निशीथचूर्ण से ज्ञात होता है कि मूल्य मुद्राओं में निर्धारित किये जाते थे। मूल्य की दृष्टि से कम्बलों की तीन कोटियाँ होती थीं—

१. निशीथचूर्ण भाग २, गाथा ९५२

२. वही भाग २, गाथा ९५१

३. प्रश्नव्याकरण २३; उपासकदशांग १/३४; नीतिवाक्यामृतम् ८/१४

४. पुरो बैजनाथ—इण्डिया एज डिस्ट्राइन्ड बाइ अलों ग्रीक राइटर्स, पृ० ६२

५. सोमदेवसूरि—नीतिवाक्यामृतम् ८/१५

६. स्पष्टया मूलवृद्धिभाण्डेषु राज्ञो, यथोचितं मूल्यं विक्रेतुः वही ८/१८

७. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा २०४३

उत्तम, मध्यम और निम्न । उत्तम तथा निम्न प्रकार के कम्बलों का मूल्य क्रमशः एक लाख रुवग व १८ रुवग था । मध्यम प्रकार के कम्बल का मूल्य उत्तम से कम और निम्न से अधिक होता था । बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार 'कृत्रिकापण' में एक निष्क के मूल्य वाले बर्तन भी बेचे जाते थे ।^१ दशवैकालिकचूर्णि में उल्लेख है कि तीतर पक्षी एक कार्षापण में प्राप्त हो जाता था ।^२ उत्तराध्ययनचूर्णि में एक दमग (भिक्षुक) का विवरण है जो अपने प्रतिदिन के भोजन के लिये एक काकिणी व्यय करता था ।^३

विज्ञापन

कुवलयमालाकहा से ज्ञात होता है कि ग्राहकों को आकर्षित करने के लिये उन्हें भांति-भांति के प्रलोभन एवं आश्वासन दिये जाते थे । माल के सस्ते, सुन्दर और अच्छे होने का आश्वासन दिया जाता था, एक प्रकार से उन्हें माल की गारंटी दी जाती थी ।^४ कुमारगुप्त प्रथम के समय के मन्दसौर प्रस्तर अभिलेख से तन्तुवाय संध के एक विज्ञापन की झलक मिलती है । इसमें रेशमी वस्त्र को विज्ञापित करते हुये कहा गया है कि एक रूप-यौवन सम्पन्न, सुवर्णहार धारण करने वाली नारी पान के बीड़े तथा पुष्पों से सज्जित होकर भी गुप्त स्थान पर अपने प्रियतम के पास तब तक नहीं आती जब तक वह रेशमी वस्त्र नहीं धारण कर लेती ।^५ बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि ज्योतिषियों से परामर्श लेकर और शुभ मुहूर्त देखकर, व्यापार आरम्भ किया जाता था ।^६

प्राचीन भारत के सार्थवाह

व्यापार के लिये सार्थवाहों का अत्यधिक महत्त्व था असुरक्षित मार्गों की कठिनाइयों के कारण अकेले यात्रा करना सम्भव नहीं था, इसलिये लोग सार्थ बना कर चलते थे । मिलकर यात्रा करने वाले समूह को 'सार्थ' कहा जाता था और सार्थ का नेतृत्व करने वाला 'सार्थवाह' कहलाता

१. बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, गाथा ४२१६

२. दशवैकालिकचूर्णि; पृ० ५८, वसुदेवहिण्डो, भाग १, पृ० ५७

३. उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० १६१-१६२

४. सूरि उद्योतन-कुवलयमालाकहा, पृ० १५३

५. कुमारगुप्त प्रथम तथा बन्धुवर्मन का मन्दसौर अभिलेख पंक्ति १२ नारायण के० के०—प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह २, पृ० १२३

६. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ५, गाथा ५११४

११२ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

था ।^१ सार्थवाह की आज्ञा का सबको पालन करना पड़ता था । किसी-किसी सार्थ में दो सार्थवाह होते थे, ऐसी स्थिति में यात्रियों को दोनों की आज्ञा का पालन करना पड़ता था ।^२ कभी-कभी मार्ग की दुष्करता के कारण एक दूसरे की सहायता के उद्देश्य से दो सार्थवाह मिलकर साथ में चलते थे ।^३ सार्थ के साथ यात्रा करने वाले यात्रियों को सार्थवाह को धन देना पड़ता था । निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि सार्थवाह सार्थ के साथ यात्रा करने वाले साधुओं से भी धन की माँग करते थे ।^४

जैन ग्रन्थों में पाँच प्रकार के सार्थ बताये गये हैं—

भण्डी—इसमें माल ढोने के लिये शकट आदि यान होते थे । बहलिका—इसमें भारवाही पशु ऊँट, खच्चर, बैल आदि वाहन होते थे । भारवह—इसमें यात्री अपना भार स्वयं ढोते थे, औदारिका—इसमें श्रमिकों का सार्थ होता था जो अपनी आजीविका के लिये घूमते रहते थे और कार्पाटिका—इसमें भिक्षुओं और साधुओं का सार्थ होता था ।

निशीथचूर्णि से यह भी ज्ञात होता है कि सुदूर प्रदेशों में यात्रा करने वाले सार्थों में भारवाहक श्रमिकों के अतिरिक्त बैल, ऊँट, घोड़े आदि पशु तथा गाड़ी और रथ भी होते थे ।^५ ऐसे सार्थों में बालक, वृद्ध, दुर्बल, रोगी आदि को भी सवारो मिल जाती थी ।^६ बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि

१. 'सत्थं वाहेति सो सत्थवाहो'

निशीथचूर्णि, भाग २, गाथा १७८५, भाग २, गाथा २५०२

२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा ३०८६;

निशीथचूर्णि, भाग ४, गाथा ५६७७

३. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा ३०८७

४. मुल्लेण विणा णेच्छंति ।

निशीथचूर्णि, भाग ४, गाथा ५६६३

५. 'रह हत्थि जाग—तुरगे, अणुरंगादीहि एंते कायवहो'

निशीथचूर्णिभाष्य गाथा, भाग ३, गाथा ३०१४

६. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा ३०६८

“जइ अम्हं कोइ बालो आदिसदाओ बुड्ढो दुब्बलो गिलाणो वा गंतुं ण सकेज्जा सो तुभेहि चडावेयव्वो ।”

निशीथचूर्णि, भाग ४, गाथा ५६६३

जो सार्थ धन देने पर भी सवारी की सुविधा प्रदान नहीं करता था वह अच्छा नहीं माना जाता था ।^१

जो सार्थ मध्यम गति से आगे बढ़ता हुआ उपयुक्त स्थान गोकुल और बस्तियों में पड़ाव डालता हुआ उचित समय पर विश्राम आदि का प्रबन्ध करता था वह अच्छा माना जाता था क्योंकि ऐसे सार्थ यात्रियों के लिए सुविधाजनक होते ही थे, इसमें भिक्षुओं को भी भिक्षा प्राप्त हो जाती थी ।^२ सार्थ यात्रियों की सुविधा के लिये पर्याप्त मात्रा में गेहूँ, गुड़, तिल, घृत आदि खाद्य पदार्थ लेकर चलते थे । इससे आपत्ति और वर्षा ऋतु में भी सबको भोजन मिलने की सम्भावना रहती थी ।^३

ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि सार्थवाह एक कुशल पथ-प्रदर्शक होता था तथा सार्थ को गन्तव्य स्थान पर पहुँचाना अपना कर्तव्य समझता था ।^४ निशीथचूर्णि में उल्लेख है कि कभी-कभी घने जंगलों में सार्थ मार्ग-भ्रमित भी हो जाते थे, ऐसे समय में वे अपने इष्ट देवता का स्मरण करके वनदेवता का आह्वान करके उनमें मार्ग पूछते थे ।^५ रेतीले मार्गों पर यात्रा प्रायः रात्रि में ही की जाती थी क्योंकि दिन में सूर्य की गर्मी से यात्रा करने में असुविधा होती थी । रेतीले मार्गों पर रात को चाँद-तारों को देखकर दिशा का अनुमान किया जाता था ।^६ जातक कथाओं में भी रात को ही रेतीले मार्गों को पार करने के उल्लेख आये हैं ।^७

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा ३०६८

२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा ३०७८;

निशीथचूर्णि, भाग ४, गाथा ५६७२

३. दंतिक-मोर-तेल्ले-गुल-सपिणमातिभंडभरितासु ।

बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा ३०७२;

निशीथचूर्णि, भाग ४, गाथा ५६६४

४. ज्ञाताधर्मकथांग १५/१२

५. “जई तत्थ दिसामूढो हवेज्ज गच्छो सबाल-बुड्ढो उ वणदेवयाये ताहे णियम-पगपं तह करेति”

बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा ३१०८;

निशीथचूर्णि, भाग ४, गाथा ५६६५

६. निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ३१०८

७. वण्णुपथ जातक, आनन्द कौसल्यायन, जातककथा १/१३८

व्यापारिक मार्ग घने जंगलों से होकर जाते थे इसलिये चोर-डाकुओं का सदैव भय बना रहता था। जिस सार्थ में बहुमूल्य वस्तुएँ होती थीं उसके लूटे जाने का भय और अधिक रहता था, ऐसे सार्थ में साधुओं को जाने का निषेध किया गया था।^१ व्यापारी मूल्यवान वस्तुओं की रक्षा किस प्रकार करते थे इसका भी उल्लेख जैन ग्रन्थों में प्राप्त होता है। **निशीथचूर्णि** और **भाष्य** से ज्ञात होता है कि एक वणिक् के पास ७००० मूल्य के मूल्यवान रत्न थे। मार्ग में चोर-डाकुओं के भय से उसने अपनी गठरी में नीचे की ओर रत्न रखकर तथा ऊपर कंकड़-पत्थर रखकर पागलों का सा भेष बना लिया था।^२ **बृहत्कल्पभाष्य** में भी एक ऐसे वणिक् का उल्लेख है जिसने पागलों का भेष बनाकर अपने रत्नों की रक्षा की थी।^३ **कुवलयमालाकहा** से ज्ञात होता है कि मायादित्य और थाणु नामक व्यापारियों ने विविध प्रकार से व्यापार करके पाँच हजार स्वर्ण मुद्रायें अर्जित की थीं। सुरक्षा की दृष्टि से उन्होंने उन स्वर्णमुद्राओं से दस रत्न क्रय किये तथा उन्हें गन्दे वस्त्रों में बाँध दिया। अपनी पहचान छिपाये रखने के लिये गेरुआ वस्त्र धारण करके सिर मुड़ा कर हाथ में छाता लेकर, दण्ड के अग्रभाग में तुंबी लटकाकर और हाथ में भिक्षा पात्र लेकर स्वदेश पहुँचे।^४ **खुरप्प जातक** से ज्ञात होता है कि एक व्यापारी ने जंगली जाति को एक हतार की थैली देकर जंगल पार किया था।^५ इससे प्रतीत होता है कि जंगली जातियाँ भी पारिश्रमिक लेकर यात्रियों को सुरक्षित रूप से जंगल पार करा देती थीं।

समराइच्चकहा में विवरण उपलब्ध होता है कि चोर-डाकुओं की आशंका के कारण व्यापारी अपने साथ सशस्त्र सुरक्षा दल लेकर भी चलते

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा ३०७४

२. जलथल पहे य रयणा,णुवज्जणं तेण अडवि पज्जंते । निक्खणण फुट्ट-पत्थर, मा मे रयणे हर पलावो ।

निशीथभाष्य, भाग ३ गाथा २९६२

३. जलथलपहेसु रयणाणुवज्जणं तेण अडविपच्चंते निक्खणण फुट्टपत्थर मा मे रयणे हर पलावो ।

बृहत्कल्पभाष्य, भाग ५, गाथा ५८५७

४. उद्योतन सूरि—कुवलयमालाकहा, पृ० ५८

५. खुरप्प जातक, आनन्द कौसल्यायन, जातककथा, भाग ३, पृ० ६०

थे ।^१ जब लूटपाट मचाने वाली जंगली जातियों का आक्रमण हो जाता था तो ये आयुधधारी सुरक्षादल युद्ध भी करते थे ।^२ कुवलयमालाकहा से ज्ञात होता है कि यात्री स्वयं भी पहरा देते थे और सार्थ की सुरक्षा करते थे । एक बार वैश्रमणदत्त सार्थवाह का सार्थ एक ऐसे घने जंगल में पहुँचा जहाँ एक भील पल्ली (वसति) थी । वहाँ एक बड़े जलाशय के पास सार्थ का पड़ाव डाल दिया गया । मूल्यवान वस्तुओं को घेरे में रखा गया, कनातें खींचकर एक निवेश सा बना लिया गया, तलवारें निकाल ली गईं और धनुष पर बाण चढ़ा लिये गये और इस प्रकार पहरा देते हुयेलोग सारी रात सार्थ की सुरक्षा करते रहे ।^३ बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि जंगली जानवरों और चोर-डाकुओं से सुरक्षा के लिये सार्थ के लोग रात को अपने चतुर्दिक् घेरा निर्मित कर तथा उसे चारों ओर से सूखे काँटों आदि की बाड़ों से सुरक्षित कर लेते थे, साथ ही आग भी जला लेते थे । वे चोरों को भयभीत करने के लिये अपनी निडरता और वीरता की डींगें मारते हुए रात भर जागते रहते थे । लेकिन जब सचमुच ही चोर या डाकु आ जाते तो सार्थ छिन्न-भिन्न हो जाता था ।^४

जातकग्रन्थों में भी सार्थों द्वारा सुरक्षा दल साथ लेकर यात्रा करने के उल्लेख उपलब्ध हैं । सार्थ के लोग स्वयं भी क्रम से पहरा देते थे ।^५ सुरक्षा दलों के अभाव में सार्थ प्रायः लूट लिये जाते थे । वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि व्यापारी चारुदत्त रुई खरीदकर सार्थ के साथ उत्कल देश गया था वहाँ से जब वह ताम्रलिप्ति जा रहा था तो मार्ग में सींग बजाते हुए चोरों का समूह आ टकराया और सार्थ अस्त-व्यस्त हो गया तथा चोरों ने सार्थ को लूट लिया ।^६ आवश्यकचूर्णि में भी उल्लेख है कि उज्जयिनी नगरी का धनवसु सार्थवाह चम्पा नगरी जा रहा था

१. हरिभद्रसूरि—समराइच्चकहा ६/५११, ५१२

२. वही ७/६५६

३. उद्योतनसूरि—कुवलयमालाकहा, पृष्ठ १३५

४. सावय अण्णदठकडे, अट्ठा सुखे सय जोइ जतणाए । तेणे वयणचडगरं, तत्तो व अवाउडा होंति ।

बृहत्कल्पभाष्य भाग ३ गाथा ३१०३

५. अपण्ण जातक, आनन्द कौसल्यायन, जातककथा ४/१३२

६. संघदासगणि—वसुदेवहिण्डी, भाग १ पृ० १४५

मार्ग में पुलिंदों ने उसका सार्थ लूट लिया।^१ जिस सार्थ में मूल्यवान वस्तुएँ कुंकुम, अगुरु, चन्दन, चोय, शंख, लवण, कस्तूरी, हींग आदि वस्तुएँ होती थीं, उसके लूटे जाने की आशंका बनी रहती थी।^२

यात्रियों की सुरक्षा हेतु राज्य भी सतर्क रहता था। बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि जंगलों में यात्रियों के सुरक्षार्थ रक्षक पुरुष, गौल्मिक और स्थानपाल नियुक्त किये जाते थे।^३ कल्पसूत्र में उल्लेख है कि राज्य की ओर से नियुक्त सुरक्षाकर्मी नयसार, सहायक पुरुष, रथ और बैलों के साथ पाथेय लेकर गहन वन में यात्रियों की सहायता के लिये गया था।^४

सार्थ का प्रस्थान

सार्थ का प्रस्थान करना व्यापारिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण घटना होती थी। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार यात्रा आरम्भ करने से पूर्व अनेक प्रकार की तैयारियाँ की जाती थीं। यात्रा के लिये खाद्य-सामग्री ली जाती थी, सेवकों को तैयार किया जाता था। शुभ नक्षत्र और तिथि को देखकर सार्थ-प्रस्थान की घोषणा की जाती थी। यात्रा से पूर्व अपने सगे सम्बन्धियों और श्रेष्ठ जनों को विपुल मात्रा में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य चार प्रकार का भोजन कराया जाता था।^५ कुछ धार्मिक विचारों वाले सार्थवाह अपने सहयात्रियों को अनेक प्रकार की सुविधायें देते थे।^६ ज्ञाताधर्मकथांग में चम्पा नगरी के धन्ता सार्थवाह का उल्लेख

१. आवश्यकचूर्णि, भाग २ पृ० १५५

२. “कुंकुम अगुरुं पत्तं चोयं कथूरिया य हिगुं च । संखग-लोणभरितेण न तेण सत्थेण गन्तव्वं”

बृहत्कल्पभाष्य भाग ३ गाथा ३०७४

३. रत्तिखज्जइ वा पंथो, जइ तं भित्तूण जणवयमईति ।

बृहत्कल्पभाष्य भाग ३ गाथा २७७५, ३०८९

४. कल्पसूत्र, सूत्र ४

५. ज्ञाताधर्मकथांग १५/११

६. “धण्णे सत्थवाहे अहिच्छतं गरिं वाणिज्जाए गमित्तए, तस्स णं धणे सत्थवाहे अच्छत्तगस्स छत्तगं दलयइ, अणुवाहणस्स उवाहणाओ दलयइ, अकुंडियस्स कुंडियंदलयइ, अपत्थयणस्स पत्थयणं दलयइ, अपक्खेवगस्स पक्खेवं दलयइ, अंतरा वि य से पडियस्स वा भगगुग्गस्स साहेज्जं दलयइ सुहंसुहेण य णं अहिच्छतं संपावेइ”

हुआ है जिसने व्यापार के लिये अपना सार्थ ले जाते हुये यह घोषणा की थी कि धन्ना सार्थवाह अपना सार्थ अहिच्छत्र ले जा रहा है। अतः जो कोई भी उसके सार्थ में जाने का इच्छुक हो उसकी वह सब प्रकार से सहायता करेगा। आवश्यकतानुसार वह सभी को भोजन, वस्त्र, औषधि, वस्त्र, जूता एवं वाहन उपलब्ध करायेगा।^१ आवश्यकचूर्ण में भी एक ऐसे ही सार्थवाह का उल्लेख हुआ है जो सहायत्रियों को भोजन, वस्त्र, औषधि आदि निःशुल्क देता था।^२ व्यापारिक यात्रा आरम्भ करने से पूर्व व्यापारी को अपने राजा से अनुमति लेनी पड़ती थी। जिस देश से व्यापार किया जाता था उस देश के राजा से भी व्यापार की अनुमति लेकर शुल्क देना पड़ता था।^३ कभी-कभी राजा प्रसन्न होकर व्यापारी को शुल्क-मुक्ति भी प्रदान कर दिया करते थे।^४ ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि चम्पा नगरी के पोतवणिक अरहन्तक ने मिथिला पहुँच कर वहाँ के राजा को उपहार में रत्न और कुंडल दिये तथा व्यापार हेतु अनुमति मांगी। राजा ने भेंट स्वीकार कर ली एवं प्रसन्न होकर उसे शुल्कमुक्त करते हुये व्यापार के लिये आज्ञा दे दी।^५ व्यापारी दूसरे देशों में अपने माल के विक्रय से प्राप्त धन से वहाँ निर्मित विविध वस्तुओं का क्रय करके और फिर उनको अपने देश में लाकर विक्रय करते थे।^६ इससे प्रतीत होता है कि व्यापारी दोनों देशों की वस्तुओं का क्रय-विक्रय करके अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे।

समाज में ऐसी धारणा थी कि समुद्रयात्रा से अधिक धन अर्जित किया जा सकता है।^७ इसलिये भारतीय व्यापारी कठिनाइयों का सामना

१. वही १५/६

२. आवश्यकचूर्ण भाग १ पृ० ११५

३. आवश्यकचूर्ण भाग १५ पृ० १९

४. 'कणगकेऊ राया हृदतुट्टे घणस्स सत्थवाहस्स तं महत्थं महग्घं महरिहं जाव पाहुडं पडिच्छइ, पडिच्छिता घणं सत्थवाहं सक्कारेइ सम्माणेइ उस्सुक्कं वियरइ'

ज्ञाताधर्मकथांग, १५/१९

५. वही ८/८१-८३

६. वही ८/८४

७. हरिभद्रसूरि—समराइचकहा ४/२४५

११८ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

करते हुये भी समुद्र-पार देशों से व्यापार करते थे। चम्पा नगरी के सार्थ-वाह माकन्दी के पुत्र जिनपाल और जिनरक्षित ने बारह बार समुद्र-मार्ग से व्यापारिक यात्रायें की थीं।^१ पूर्वी तट के ताम्रलिप्ति जलपत्तन से मलय-द्वीप, सिंहलद्वीप, यवद्वीप, स्वर्णभूमि और चीन तक जलपोत जाते थे।^२ वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि चारुदत्त, राजा से अनुमति-पत्र लेकर चीन गया था वहाँ से व्यापार करके वह स्वर्णभूमि “वर्मा”, कमलपुर “कम्बोली”, यवद्वीप “जावा”, सिंहल द्वीप होकर बर्बरदेश एवं यवण होता हुआ महाराष्ट्र के समीप पहुँचा था।^३ ज्ञाताधर्मकथांग से भी ज्ञात होता है कि चम्पा नगरी के व्यापारी कलिका द्वीप गये थे।^४ पश्चिमी समुद्र तट के भरुकच्छ और सोपारक जलपत्तनों से पाश्चात्य जंजीवार देशों से व्यापार होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।^५

समुद्र यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व भी अनेक प्रकार की तैयारियाँ करनी पड़ती थीं। चूँकि समुद्री यात्राओं में कई बार अनुमान से कहीं अधिक समय लग जाता था, इसलिये साथ में पर्याप्त मात्रा में खाद्य-सामग्री जल और ईंधन रखा जाता था।^६ यात्रा आरम्भ करने से पूर्व राजा से अनुमति-पत्र लेना पड़ता था। अनुमानतः यह आज्ञापत्र या अनुमति-पत्र परिपत्र जैसा होता था। यात्रा की सुरक्षा के लिये प्रस्थान के पूर्व समुद्र देवता तथा कुलदेवता की पूजा की जाती थी और गुरुजनों का आशीर्वाद

१. ज्ञाताधर्मकथांग ९/४

२. संघदासगणि-वसुदेवहिण्डी भाग १/१४६

३. रायसासणेण पट्टओ, अणुकूलेसुवात-सउणेसु आरुहो मि जाणवन्तं, उक्खित्तो धूवो, चीणथाणस्य मुक्कं जाणवत्तं जलपहेण जलमओ विव पइभाइ लोगो, पत्ता मु चीगत्थाणं। तत्थ वणिज्जेऊण गयो मि सवण्णभूमि पुव्वदाहिणाणि पट्टणाणि हिडिऊण कमलपूरं जवणदीवं सिंहले य वलंजेतूण पच्छिमे य बब्बर जवणे।

वसुदेवहिण्डी भाग पृ० १/१३६, देखिये-मोतीचन्द्र, सार्थवाह पृ० १३२, १३८

४. कालियदर्शि उत्तरेंति—ज्ञाताधर्मकथांग १७/२२

५. उद्योतनसूरि-कुवलयमालाकहा, पृष्ठ ३६ : दे० मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृ. १३६

६. भरेंति तेदुलाणं य समियस्स य तेलस्स य घयस्स य गुलस्स य गोरस्स य उदगस्स य भायपाणं य ओसहाणं य भेसज्जाण य कट्ठस्य य पावरणाण य पहरणाण' ज्ञाताधर्मकथांग ८/६६

प्राप्त किया जाता था^१ और वाद्यों की मंगल-ध्वनि के साथ यात्रा आरम्भ की जाती थी।^२ कुवलयमालाकहा में धनदेव की कथा से ज्ञात होता है कि समुद्रपार देश में पहुँचते ही व्यापारी पोत से विक्रो योग्य माल उतारते, भेंट लेकर वहाँ के राजा के पास जाते और उसे प्रसन्न करके व्यापार की अनुमति प्राप्त करते और निर्धारित शुल्क चुकाने के बाद व्यापार आरम्भ कर देते।^३ पत्तनों पर जलपोतों से लाये गये माल का भलीभाँति निरीक्षण किया जाता और राजाज्ञा के बिना लाया गया माल छीन लिया जाता और व्यापारी को दण्डित भी किया जाता।^४

आगमकाल में समुद्र यात्रा अत्यन्त असुरक्षित थी इस कारण समुद्र-यात्रा से सकुशल लौटने वाले बड़े भाग्यवान् समझे जाते थे। समुद्री यात्रा की कठिनाइयों को देखते हुये सामान्यतः व्यापारी अपनी स्त्रियों को साथ नहीं ले जाते थे। उत्तराध्ययनसूत्र से ज्ञात होता है कि यदि कोई व्यापारी विदेशी स्त्री से अपना विवाह कर लेता तो उसे वह अपने साथ ले आता। पालित नाम के व्यापारी का विवाह विदेश में ही हो गया था। जब वह अपनी पत्नी को साथ लेकर लौट रहा था तो मार्ग में उसे पुत्र की प्राप्ति हुई जिसका नाम उसने समुद्रपाल रखा।^५ जलमार्गों से यात्रा करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। सर्वोपरि तूफानों से जलयानों के डूबने की आशंका रहती थी। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि चम्पा नगरी के सार्थवाह माकन्दी के पुत्र जिनपाल और जिन-रक्षित जब बारहवीं बार समुद्रयात्रा पर निकले तो मार्ग में उनका पोत समुद्री तूफान में फँस गया, फलतः वह टुकड़े-टुकड़े हो गया। सार्थवाह-पुत्र बड़ी कठिनाई से लकड़ी के पटरों की सहायता से तैरते हुये रत्नद्वीप पहुँचे।^६ इसी प्रकार हस्तिशीर्ष के पोतवणिक् पोत से यात्रा कर रहे थे तो उनका पोत समुद्री तूफान में फँस गया और वह भटकते हुये कलिकाद्वीप

१. गृहिणसु रायवरसासणेसु-ज्ञाताधर्मकथांग ८/६७

२. वही ८/६७

३. सूरि उद्योतन—कुवलयमालाकहा, पृष्ठ ६७

४. उत्तराध्ययनचूर्णि ४/१२०

५. उत्तराध्ययन २१/२, ४

६. ज्ञाताधर्मकथांग ९/९-१२ (रत्नपुर भारत और चीन के मध्य में एक दीप था जहाँ रत्नों की प्राप्ति होती थी उसकी पहचान नहीं हो सकी)

में पहुँच गये थे।^१ प्रश्नव्याकरण में उल्लेख है कि समुद्री यात्राओं में जलदस्युओं का भी भय रहता था। वे काली-पीली सफेद झंडियों वाले, बड़ी पतवारों वाले, द्रुतगामी पोतों द्वारा आक्रमण करके व्यापारियों को लूट लेते थे।^२ मालाबार तट पर आठवीं शताब्दी के पश्चात् पश्चिम के अरब व्यापारी दक्षिण के तटीय प्रदेशों में बस गये थे जो भारतीय जहाजों पर लूटमार करते रहते थे।

आयात-निर्यात

आगमकाल में देशीय और अन्तर्देशीय व्यापार समान रूप से उन्नत थे। भारत में निर्मित वस्तुओं की विदेशों में अत्यधिक मांग थी। भारत से कुछ विशेष रत्न, वस्त्र, सुगन्धित वस्तुएं, खिलौने, मसाले, गुड़ आदि का निर्यात होता था। विदेशों से सोना, चाँदी, रत्न, दास-दासी, अश्व और रेशमी वस्त्र का आयात होता था। भारत में रत्न-व्यापार बहुत होता था। “पारसकुल” (ईरान) के व्यापारी यहाँ रत्न-क्रय करने आते थे। उत्तराध्ययनटीका से ज्ञात होता है कि एक बार एक वणिक् के पुत्रों ने विदेशी व्यापारी को अपने सारे रत्न बेच दिये।^३ इसी प्रकार आवश्यक-चूर्ण के अनुसार कोडीवरस (सिंहभूमि के पास कोई स्थान) के व्यापारी रत्न, मणि और मोती लेकर चिलात जाति के राजा के पास गये थे।^४ ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि हस्तिशीर्ष के पोतवणिक् चन्दन, खश, इलायची आदि अनेक सुगन्धित पदार्थ, विविध वाद्ययंत्र, खांड, गुड़, मिश्री सूती तथा ऊनी वस्त्र और खिलौने लेकर कलिकाट्टीप गये थे।^५ वसुदेव-हिण्डी से सूचना मिलती है कि चम्पा का श्रेष्ठी-पुत्र सात करोड़ धन अर्जित करने हेतु दक्षिण गया। वहाँ से जलयान में श्वेत चन्दन और वस्त्र भरकर यवनद्वीप (सिकन्दरिया) गया, जहाँ पहुँच कर उसने अपने माल बेचकर सात करोड़ से भी अधिक धन अर्जित किया।^६

१. ज्ञाताधर्मकथांग १७/११-१३

२. लवणसलिलपुण्णं असिय-सिय समूसियगेहिं हत्थंतरकेहिं वाहणेहिं अइवइत्ता समुद्धमज्जे हणंति गंतूण जणस्स पोते । प्रश्नव्याकरण ३/७

३. उत्तराध्ययन टीका १८/२५२

४. आवश्यकचूर्ण भाग २ पृ० २०३

५. ज्ञाताधर्मकथांग १७/२२

६. संघदासगणि-वसुदेवहिण्डी भाग पृ० १/४०

ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि श्रेणिक के अन्तःपुर में विदेशी दासियाँ थीं।^१ **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति** में यवनद्वीप से दास-दासी मंगाये जाने का उल्लेख है। यहाँ यवन, बब्बर, वाहलीक, पारस, सिंहल, अरब आदि विविध देशों की दासियाँ थीं।^२ इससे प्रकट होता है कि प्राचीनकाल में प्रथम-द्वितीय शताब्दी में विदेशों से दास-दासी मंगाये जाते थे।

भारतीय नरेश विदेशों से बलिष्ठ और सुन्दर घोड़ों का आयात करते थे। **ज्ञाताधर्मकथांग** से ज्ञात होता है कि भारतीय व्यापारी मिथिला के राजा कनकेतु के अनुरोध पर कलिकाद्वीप से धारीदार घोड़े लाये थे।^३ **उत्तराध्ययन** में अरब और कम्बोज से अकीर्ण और कन्थक जाति के घोड़े भारत में लाये जाते थे।^४ इसी प्रकार **राजप्रश्नीय** से भी विदित होता है कि श्वेताम्बिका नगरी के राजा प्रदेशी को कम्बोज के घोड़े उपहार स्वरूप प्राप्त हुए थे।^५ उत्तरापथ के घोड़ों का व्यापार बड़े उत्कर्ष पर था। सीमा-प्रान्त के व्यापारी घोड़ों के साथ देश के कोने-कोने में जाते थे। **आवश्यक-चूर्णि** से ज्ञात होता है कि उत्तरापथ का एक घोड़े का व्यापारी द्वारका गया था, वहाँ राजकुमारों ने उससे घोड़े खरीदे थे।^६

कुवलयमालाकहा में उल्लेख है कि एक व्यापारी सुपारी लेकर उत्तरापथ गया था वहाँ से वह घोड़े लेकर आया था।^७ **कुण्डकुच्छि जातक** से भी पता चलता है कि उत्तरापथ के अश्व व्यापारी बनारस आकर अपने अश्व बेचते थे।^८ इसी प्रकार कार्लिदास के **रघुवंश** से भी ज्ञात होता है कि कम्बोज देश के राजाओं ने बहुत से उत्तम घोड़े महाराज रघु को भेंट किये थे।^९ **उत्तराध्ययनटीका** के विवरणानुसार पारसकुल (ईरान) के

१. ज्ञाताधर्मकथांग १/८२

२. राजप्रश्नीय १६२

३. ज्ञाताधर्मकथांग १७/२२

४. उत्तराध्ययन १३/५८

५. राजप्रश्नीय १२४

६. आवश्यकचूर्णि भाग पृ. ४१८

७. उत्तरावहं पूयफलाइयं भंडं घेतूणं तत्थ लद्ध-लाभो तुरंगमे घेतूणं।

कुवलयमालाकहा पृष्ठ ६५

८. कुण्डकुच्छि जातक, आनन्द कौसल्यायन

जातककथा ३/१६

साथ भी भारत के व्यापारिक सम्बन्ध थे वहाँ से मंजीठ, सोना, चांदी, मोती और मूँगे भारत में आते थे ।^१

कुवलयमालाकहा से ज्ञात होता है कि भारतीय व्यापारी बम्बरकुल या बैबिलोन तक जाते थे । वहाँ वे भारतीय वस्त्र बेचकर हाथी-दाँत और मोती लाते थे ।^२ जातकग्रन्थ में भी बावेरु के साथ व्यापार के उल्लेख आये हैं भारतीय व्यापारियों ने बावेरु में सौ काषार्पण में एक कौआ बेचा था ।^३ चीन से भारत में रेशमी वस्त्र लाया जाता था । **कुवलयमाला**कहा में उल्लेख है कि एक व्यापारी भारत से भैंसे और नीलगाय लेकर चीन गया था उन्हें बेचकर वह वहाँ से श्वेतरेशमी वस्त्र लाया था ।^४ संघदास-गणि के अनुसार चारुदत्त आभूषण, लाख और लाल वस्त्र लेकर हूण, खस और चीनियों के देश गया था ।^५ चीन से आयातित रेशमी वस्त्र “चीनांशुक” कालिदास के काल में भी भारत में बहुत लोकप्रिय था ।^६

एस० के० मैती के अनुसार गुप्तकाल में भारत और रोम के मध्य द्रव्य व्यापार में बहुत वृद्धि हो गयी थी । भारत से मसालों, मोतियों, सुगन्धित वस्तुओं और सूनी वस्त्रों का निर्यात होता था और रोम से सोने का आयात होता था ।^७ डा० मोतीचन्द्र के अनुसार भी भारत से मोती, कपड़े, मसाले और कुत्ते रोम भेजे जाते थे और रोमवासी इनका मूल्य सुवर्णमुद्राओं में चुकाते थे ।^८ घोष का मत है कि रोम से प्रतिवर्ष लगभग ५००,०० पौंड के मूल्य बराबर ५०,०००,००० संस्टर्स भारत में आते थे ।^९ मथुरा से प्राप्त रोम के स्वर्ण-सिक्के इस तथ्य की पुष्टि करते

१. उत्तराध्ययनटीका, पृष्ठ ६४

२. सूरि उद्योतसूरि—कुवलयमालाकहा, पृ० १३२

३. बावेरु जातक—आनन्द कौसल्यायन, जातककथा, १/२९०

४. कुवलयमालाकहा, पृष्ठ ६६

५. संघदासगणि—वसुवह्निडी भाग २ पृ० ३०९

६. कालिदास कुमारसंभव ७/३

७. मैती एस० के०—इकोनामिक लाइफ इन इण्डिया इन गुप्ता पीरियड, पृष्ठ १३८

८. मोतीचन्द्र—सार्थवाह, पृष्ठ १२५

९. घोष नरेन्द्र नाथ—अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृष्ठ ४/१

हैं कि विदेशी व्यापारियों से लेनदेन में सोने के सिक्कों का प्रयोग होता था ।

साधारणतः दूरस्थ देशों से होने वाला अधिकांश व्यापार विलासिता की वस्तुओं तक ही सीमित था । सूत्रकृतांग से पता चलता है कि राजा महाराजा विदेशों से विलासिता की वस्तुएँ मंगवाते थे ।^१

राज्य निर्यात को प्रोत्साहन देता था क्योंकि निर्यात की हुई वस्तु शुल्क-रहित होती थी । लेकिन आयातिन वस्तुओं पर शुल्क लगता था ।^२ इससे प्रतीत होता है कि आधुनिक अर्थनीति के समान ही आगमों के रचनाकाल में भी अपने देश के धन की वृद्धि के लिये निर्यात को प्रोत्साहन और वस्तुओं पर शुल्क लगाकर आयात को हतोत्साहित कर व्यापार में उचित समन्वय स्थापित किया जाता था । भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओं की अधिकता और तुलना में आयात होने वाली वस्तुओं की कमी इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि प्राचीनकाल में भारतीय व्यापार अत्यन्त अनुकूल परिस्थिति में था ।

२-परिवहन

विनिमय में परिवहन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है । राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि यातायात के साधनों पर निर्भर रही है । कृषि और उद्योग से उत्पादित वस्तुओं का व्यापार यातायात के साधनों के अभाव में संभव न था ।

प्राचीन जैन साहित्य में उपलब्ध सन्दर्भों से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारत जल और स्थल मार्गों से जुड़ा हुआ था । इनमें से कुछ मार्ग तो मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया तक जाते थे ।^३ सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारत की पश्चिमोत्तर सीमाओं पर विदेशियों का आधिपत्य व्यापारियों के लिये लाभदायक सिद्ध हुआ था । शक, पल्लव और कुषाण राजाओं ने भारतीय वणिकों के लिये मध्य एशिया के मार्ग खोल दिये थे ।^४

१. सूत्रकृतांग १/२/३/१४५

२. ज्ञाताधर्मकथांग ८/८३९, सूरि उद्योतन—कुवलयमालाकहा, पृष्ठ ६७

३. संवदासगणि—वसुदेवहिण्डी, भाग १ पृ० १४८

४. थापर रोमिला—भारत का इतिहास, पृष्ठ ७९

१२४ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

जैनसाहित्य में जैन साधुओं के विहार योग्य २५½ आर्य देशों का उल्लेख है—मगध, अंग, वंग, कलिङ्ग, काशी, कोशल, कुरु, कुशावर्त (सुल्तानपुर), पंचाल (रुहेलखण्ड), जांगलदेश, सौराष्ट्र, विदेह, वत्स, सडिब्बा (संडील), मलया (हजारीबाग प्रान्त), वच्छ (मत्स्य) अच्छा (बिदिलपुर) दसन्ना (दशार्ण), चेदि, सिन्धु, सौवोर, शूरसेन, बंग, परि-वर्त, कुणाल, लाढ़ और कैकयार्ध ।^१ ये स्थान जल और स्थल मार्गों द्वारा परस्पर जुड़े हुये थे ।

जैन साहित्य में मुख्यतः स्थल, जल और प्रसंगतः वायु मार्गों का उल्लेख हुआ है ।

स्थलमार्ग

प्राचीनकालीन नगर और गांव दोनों ही न्यूनाधिक यातायात-साधन सम्पन्न थे । नगरों में व्यवस्थित और प्रशस्त मार्ग निर्मित थे । भगवतोसूत्र में साधारण और कम यातायात वाले मार्ग को “पथ” और अधिक यातायात वाले विशाल मार्ग को महापथ कहा गया है ।^२ जहां तीन दिशाओं से सड़कें आकर मिलती थीं उसे “शृंगाटक” (तिराहा), जहां चार दिशाओं से सड़कें आकर मिलती थीं उसे “चतुष्क” (चौराहा) और जहाँ ६ ओर से सड़कें आकर मिलती थीं उसे “प्रवह” कहा जाता था ।^३ ग्रामों को नगरों से जोड़ने वाले सम्पर्क मार्गों पर रथ, गाड़ी आदि

-
१. १. रायगिहमगह, २. चंपा अंग, ३. तह तामलित्ति वंगा, ४. कंचणपुरक-लिंगा, ५. वाणारसि चैव कासी य ६. साकेत कोसला, ७. गयपुरं च कुरु, ८. सोरियं कुसट्टा य, ९. केपिल्लं पंचाला, १०. अहिछत्ता जंगला चैव, ११. बारवई य सुरट्ठा, १२. विदेह मिहिला य, १३. व च्छ कोसम्भी, १४. नदिपुरं सडिब्बा, १५. भड्डिलपुरमेव मलया य, १६. वेराड वच्छ, १७. वरणा अच्छा, १८. तह मत्तियावड् दसन्ना, १९. सुत्तोवई य चेदी, २०. वोयभयं सिन्धु सोवीरा, २१. महुरा य सूरसेणा, २२. पावा भंगी, २३. भास पुरिवट्टा २४. सावत्थी य कुणाला, २५. कोडीवरिसं लाढा य २६. सेयवियकेगइअद्ध प्रज्ञापना ९/१०२, बृहत्कल्पभाष्य भाग ३, गाथा ३२६३

२. भगवतो २/५/९६

३. “सिवाडगं तियं खलु, चउरच्छसमागमो चउक्कं तु । छहं रच्छाण, जहिं पवहो तं चच्चरं वित्ति ।

बृहत्कल्पभाष्य भाग ३, गाथा २३००

साधनों से और पैदल यात्रा की जाती थी। इन सड़कों की चौड़ाई के सम्बन्ध में जैन साहित्य में कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध तथ्यों के अनुसार सड़कों की चौड़ाई भिन्न-भिन्न होती थी यथा राजमार्ग, द्रोणमुख, राष्ट्र तथा व्यापारिक मंडियों को जाने वाले मार्ग आठ दण्ड चौड़े होते थे। जलाशयों तथा जंगलों को जाने वाले मार्ग चार दण्ड चौड़े होते थे। हाथियों के चलने तथा खेतों को जाने वाले मार्ग दो दण्ड चौड़े होते थे, रथों के लिये मार्ग पाँच रत्न, पशुओं के लिये चार रत्न तथा मनुष्य और छोटे पशुओं के लिये दो रत्न चौड़े मार्ग निर्मित किये जाते थे। (२ रत्न १ गज के बराबर इकाई थी)।^१

औपपातिक से ज्ञात होता है कि नगरों और गाँवों के मार्गों की सावधानी से देखभाल की जाती थी। धूल-मिट्टी को दबाने के लिये प्रतिदिन जल का छिड़काव किया जाता था। इससे प्रतीत होता है कि सड़कें कच्ची होती थीं। उत्सवों और विशेष अवसरों पर सड़कों को तोरणों और पताकाओं से सजाया जाता था और सुगन्धित पदार्थ डालकर उन्हें सुवासित किया जाता था।^२ आवश्यकता पड़ने पर सड़कों का पुनरुद्धार किया जाता था। मार्ग को अवरुद्ध करने वाले वृक्ष काट दिये जाते थे, ऊँचो-नीचो भूमि को समतल किया जाता था।^३ वाल्मीकि रामायण में भी उल्लेख है कि राम को अयोध्या वापस लाने के लिये सेना सहित प्रस्थान करते समय भरत ने शिल्पियों और वनचरों को आदेश दिया कि आगे जाकर विषम वन-प्रदेश में सेना के लिये समतल मार्ग का निर्माण करें।^४ बौद्ध ग्रन्थों में भी सड़कों को मरम्मत के उदाहरण प्राप्त होते हैं। छदन्तजातक से ज्ञात होता है कि एक बार मार्ग को समतल तथा सुरक्षित करने के लिये बोधिसत्व ने दूब, तुलसी तथा बाँस के घने वनों को काटा

१. राजामार्गद्रोणमुखस्थानीयराष्ट्रविवीतपथाः सयोनियव्यूहशमशानंग्रामपथाश्वाष्ट-
दण्डः, चतुर्दण्डो हस्तिक्षेत्रपथः पञ्चारत्नयो रथपथश्चत्वारः पशुपथः द्वौ
शूद्रपशुमनुष्यपथः।

कौटिलीय अर्थशास्त्र २/४/२२

२. औपपातिक सूत्र ४५

३. बृहत्कल्पभाष्य, भाग १, गाथा २६०

४. वाल्मीकि रामायण २/७९/१३

था और ऊँची-नीची भूमि को समतल किया था।^१ आवश्यकचूर्णि के अनुसार यात्रियों की सुविधा के लिये मार्गों के गुण-दोष की सूचना शिला अथवा वृक्षों पर दे दी जाती थी। इसी प्रकार मरुस्थल जैसे शुष्क प्रदेशों में दिशा और दूरी के संकेत के लिये भूमि में कीलें गाड़ दी जाती थीं।^२ यूनानी यात्री मेगस्थनीज ने भी इस तथ्य की पुष्टि करते हुये कहा कि भारतीय राजमार्ग-निर्माण में अत्यन्त कुशल थे। सड़कों पर स्तम्भ या पत्थर स्थापित कर उन पर उपमार्गों और दूरी का संकेत किया जाता था।^३

जैन साक्ष्यों के विवरणों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में समीपस्थ स्थानों के आवागमन के लिये तो पर्याप्त सुविधा थी, किन्तु दूरस्थ स्थानों को जाने वाले मार्ग सुरक्षित नहीं थे। देश का अधिकांश भाग वन-प्रदेश था जिनके मध्य होकर सड़कें जाती थीं। ये कच्ची और धूलधूसरित होती थीं जिन पर चलना अत्यन्त कठिन था।^४ वर्षाकाल में मार्ग कीचड़-युक्त हो जाते थे जिससे पथिक और पशु भी फिसल कर गिर पड़ते थे।^५ वर्षाऋतु में नदियों में बाढ़ के कारण भी मार्ग अवरुद्ध हो जाते थे। कभी-कभी जंगली हाथियों और चोरों द्वारा भी मार्ग अवरुद्ध करने के उदाहरण उपलब्ध हैं।^६ प्रायः नदी-नालों पर पुल नहीं होते थे, नदी पार करने का एकमात्र साधन नौकायें थीं।^७ यात्रियों को इन नावों और घाटों के लिये किराया देना पड़ता था।^८ प्रायः लोग एक स्थान से

१. छदन्त जातक—आनन्द कौसल्यायन, जातककथा ५/१३५

२. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० ५११

३. मोतीचन्द्र सार्थवाह, पृ० ७८

४. संघदासगणि—वसुदेवहिण्डी, भाग १, पृ० ४२

५. “अइक्कंते वासाकाले वासं नोवरमइ, पंथो वा दुग्गमो अइजलेण सचिक्खल्लो य, एवमाइएहिं कारणेहिं चउपाडिवए अइक्कंते णिग्गमणं ण भवति”

निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ३१६०

६. “महानदी पूरेण आगता, अगगतो वा चोरभयं, दुट्ठहत्थिणा वा पंथो रुद्धो”

वही, भाग ४, गाथा ५६६५

७. बृहत्कल्पभाष्य, भाग १, गाथा २६०

८. “तरपणे च मग्गेज्जा”

निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ४२२०

दूसरे स्थान तक आने जाने के लिये नदी, नाले अथवा समुद्र के किनारों का अनुसरण करते थे, जिससे जल, कन्दमूल, फल आदि भी प्राप्त हो जाते थे ।

व्यापारिक मार्गों में चोरों और डाकुओं का आतंक रहता था । अतः एव यात्रियों की सुरक्षा के लिये राज्य की ओर से 'गौलिमक' संज्ञक राज-पुरुष नियुक्त किये जाते थे ।^१ कभी-कभी मार्गों की रक्षा हेतु नियुक्त राज्याधिकारी साधुओं को भी चोर समझकर पकड़ लेते थे ।^२ एक राज्य से दूसरे राज्य में प्रवेश करने के लिये आज्ञा-पत्र लेने पड़ते थे ।^३ विशेष-रूप से रात में यात्रा करने वालों को अपना आज्ञा-पत्र दिखाना पड़ता था । आज्ञा-पत्ररहित पुरुष को चोर समझकर पकड़ लिया जाता था ।^४ सुरक्षा प्रदान करने के लिये जनपद मार्गों पर मार्ग कर 'वर्तनी' लिया जाता था ।^५

स्थल-वाहन

स्थल मार्गों के लिये रथ, शकट, बैलगाड़ी, हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि वाहन होते थे ।^६ उपासकदशांग से ज्ञात होता है कि गाथापति आनन्द के पास माल और सवारी ढोने के लिये पाँच-पाँच सौ शकट थे ।^७ व्यवहारभाष्य में प्राप्त विवरण के अनुसार एक राज्याधिकारी ने राज-कुल के कार्य हेतु एक गाड़ी तय किया था, जिसका गाड़ीवान वस्तुओं को निश्चित समय पर सुरक्षित रूप में पहुँचाता था । राजा ने प्रसन्न होकर

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३ गाथा २७७५, २९२६

२. वही, भाग ३, गाथा २९२६

३. वही, भाग ३, गाथा २७८७

‘मुद्रा पट्टकं दूतपुरुषं वा मार्गयितव्याः’

४. वही, भाग ३, २९२६, भाग १ गाथा १९५

५. निरुत्तादी वत्तणी व जहा । वही, भाग १, गाथा १८९

६. सूत्रकृतांग १/३/२/१९७

७. पंचहिसगडसएहि दिसायत्तिएहि पञ्चहि सगडसएहि संवाहणिएहि

उपासकदशांग १/२०

उसे शुल्क-मुक्त कर दिया ।^१ इससे संकेत मिलता है कि शकट रखने पर राज्य को शुल्क देना पड़ता था । रथ, तिनिश वृक्ष की लकड़ी से निर्मित होते थे । राजाओं के रथ इतने सुन्दर होते थे कि इनकी गणना रत्नों में की जाती थी । रथों में विभिन्न प्रकार के मणिरत्न जड़े जाते थे । रथ को घोड़े और बैल खींचते थे । घोड़ों और बैलों को सुन्दर आभूषणों से सज्जित किया जाता था । युद्ध में भी रथों का उपयोग होता था ।^२ दूसरी सुखद सवारी शिविका थी जिसे चार, आठ या सोलह व्यक्ति मिलकर उठाते थे । इसमें सुखद आसन-शयन की व्यवस्था रहती थी । प्रायः राजा, श्रेष्ठि, सार्थवाह और धनाढ्य लोग ही इसका प्रयोग करते थे । ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि मेघकुमार की दीक्षा के समय सौ पुरुषों द्वारा वहन की जाने वाली शिविका मंगाई गई थी ।^३ स्पष्ट है कि यह बहुत बड़ी और भव्य शिविका रही होगी ।

भार वहन करने वाली गाड़ी को शकट या सगगड़ कहा जाता था इनमें बैल जोते जाते थे ।^४ बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि आभोर शकटों में घो के घड़े रखकर नगरों में विक्रयार्थ जाते थे ।^५ बैलों को तेज चलाने के लिये चाबुक का प्रयोग किया जाता था ।^६

मार्गरहित प्रदेशों अथवा घाटरहित नदियों में आवागमन हेतु हाथियों का विशेष उपयोग किया जाता था । मुख्यतया राजा की सवारी के लिए और युद्ध हेतु हाथियों का प्रयोग किया जाता था । हाथियों को आभूषण, घण्टियाँ और झूले पहनाकर ध्वजा, पताका और अस्त्रों-शस्त्रों से मण्डित किया जाता था ।^७ राजा श्रेणिक और कुणिक हाथी पर सवार होकर महावीर का दर्शन, नगर-विहार और वन-विहार के लिये जाया करते थे ।^८ परिवहन के लिये घोड़ों का भी बहुविध उपयोग था, घोड़ों को

१. व्यवहारभाष्य, भाग ६ गाथा २२३

२. औपपातिक सूत्र ४९

३. ज्ञाताधर्मकथांग १/१२९

४. बृहत्कल्पभाष्य भाग १ गाथा ५००

५. बृहत्कल्पभाष्य, भाग १ गाथा ३६०

६. सूत्रकृतांग १/२/३/१४७

७. विपाक २/४, औपपातिक सूत्र ४२

८. ज्ञाताधर्मकथांग १/६३, औपपातिक सूत्र ४

स्वतंत्र सवारी के अतिरिक्त रथों में भी जोता जाता था। उन्हें आभूषण और सुनहरी जीनों से सुसज्जित किया जाता था।^१

व्यापारिक स्थल-मार्ग

देश के विभिन्न व्यापारिक केन्द्र स्थल-मार्गों से एक दूसरे से जुड़े हुये थे, जैसे पाटलिपुत्र उस समय देश के विभिन्न व्यापारिक मार्गों से जुड़ा हुआ था। पाटलिपुत्र से काबुल, कन्धार जाने वाले मार्ग को उत्तरापथ कहा जाता था। पाटलिपुत्र के मुरुण्ड राजा का दूत इसी मार्ग से पुरुषपुर (पेशावर) गया था।^२ मिथिला के यात्री भी पुरुषपुर तक जाते थे।^३ कुवलयमालाकहा में उल्लेख है कि तक्षशिला का वणिक्पुत्र धनदेव उत्तरापथ से होता हुआ दक्षिणापथ की सोपारक मंडी पहुँचा था।^४

पाणिनि ने उत्तरापथ को स्थल-यातायात की धमनी कहा है। इस मार्ग पर पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशाम्बी, साकेत, मथुरा, तक्षशिला, पुष्कलावती और कपिशा आदि स्थित थे और यही मार्ग आगे वाल्मीकि तक जाता था।^५ चीनी यात्री फाह्यान इसी मार्ग से पाटलिपुत्र पहुँचा था।^६ ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि एक मार्ग चम्पा से अहिच्छत्र तक जाता था। इसी मार्ग से चम्पा का सार्थवाह धन्ना व्यापार के लिये गया था।^७ आवश्यकचूर्णि से ज्ञात होता है कि एक मार्ग राजस्थान के मध्य से होकर सिन्धु देश पर्यन्त जाता था। मरुस्थल होने के कारण इस मार्ग पर जल का मिलना कठिन था। एक सार्थ के यात्री तो जल के अभाव में मृत्यु को प्राप्त हो गये थे।^८

१. औपपातिक सूत्र ४९

२. “पाडलि मुहंडदूते पुरिसपुरे सचिवमेलणाऽऽवासो” बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा २२९२

३. वसुदेवहिण्डी भाग २, पृ० २०९

४. उद्योतनसूरि-कुवलयमालाकहा १०५

५. पाणिनि-अष्टाध्यायी ५/१/७७

६. घोष, नरेन्द्र नाथ—एन अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ २५९

७. ज्ञाताधर्मकथांग १५/३-६

८. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० ५२३

वसुदेवहिण्डी से सूचना मिलती है कि कौशाम्बी से उज्जयिनी जाने वाला मार्ग बड़ा भयानक समझा जाता था, क्योंकि यह मार्ग घने जंगलों के मध्य होकर गुजरता था, जहाँ सर्प, शेर, बाघ, जंगली हाथियों और चोरों का आतंक था।^१ आवश्यकचूर्णि से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी से चम्पा जाने वाला मार्ग भी निरापद नहीं था, क्योंकि इस मार्ग में घने जंगल थे और उनमें पुलिंदों का निवास था।^२ ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख है कि एक स्थल मार्ग चम्पा से गम्भीरपत्तन (ताम्रलिप्ति) के समीप तक जाता था। अरहन्तक नामक प्रसिद्ध पोतवणिक् इसी मार्ग से गम्भीर-पत्तन तक अपने गाड़ियों और शकटों के साथ पहुँचा था।^३ वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि स्थल मार्गों से यात्री चीन, तिब्बत, ईरान और अरब देशों तक जाते थे। चारुदत्त अपने मित्र रुद्रदत्त के साथ सिन्धु नदी के संगम से उत्तरपूर्व दिशा में हूण, खस और चीन देश गया था।^४

जल-मार्ग

व्यापारिक दृष्टि से जलमार्गों का बहुत महत्त्व था। देश के बड़े-बड़े नगर जलमार्गों से संलग्न थे। गंगा, यमुना, सरयू, सिन्धु, इरावती, कोसी, मही तथा वेत्रा आदि नदियों का जलमार्गों के रूप में उपयोग होता था।^५ जलमार्गों से केवल देश के अन्दर ही नहीं अपितु विदेशों में भी यात्रा की जाती थी। नदी, नगर व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। उस युग में नदियों के तट पर स्थित नगर व्यापारिक

१. संघदासगणि—वसुदेवहिण्डी भाग १, पृ० ४२

२. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० १५५

३. ज्ञाताधर्मकथांग ८/८१

४. कमेण उतिण्णा मो सिन्धुसागरसंगम नदि वच्चामो उत्तरपुव्वं दिस्सं भयमाणा अतिच्छिया हूण-खस-चीण भूमिओ”

संघदासगणि—वसुदेवहिण्डी भाग १, पृ० १४८

हूण और खस की पहचान कामगिरि के दक्षिण और मेरु पर्वत के उत्तर से की गई है—स्टडीज इन दो ज्योग्राफी ऑफ एशियंट एण्ड मिडिल इण्डिया, पृष्ठ १०

५. ‘तं जहा-गंगा जउणा सरऊ एरावई मही’ निशीथसूत्र ४२; बृहत्कल्पभाष्य, भाग ५, गाथा ५६१८; निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ४२०८, ४२१०

दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। लोगों की यह धारणा थी कि समुद्र यात्रा से अधिक धनार्जन सम्भव था।^१ इसलिए व्यापारी धनार्जन की आकांक्षा से समुद्री मार्गों से विभिन्न द्वीपों तक यात्रा करते थे।

समुद्र में पाल और पतवारों के सहारे चलने वाले बड़े-बड़े जलपोत चलते थे। निर्विघ्न यात्रा के लिये व्यापारी अपनी पुरानी नावों को छोड़कर नई द्रुतगामी नावें ले लेते थे।^२ जलयान चलते ही पाल और लंगर खोल दिये जाते थे। नाविक पतवार चलाना शुरू कर देते थे। कर्णधार और कुक्षिधार अपने नियत स्थानों पर पहुँच जाते थे। जलयान अपने मार्ग पर चल पड़ता था और अनुकूल हवा मिलते ही आगे बढ़ने लगता था।^३ समुद्रयात्रा की निर्विघ्नता अनुकूल वायु पर निर्भर होती थी। अतः समुद्री हवाओं का ज्ञान रखना अत्यन्त आवश्यक था। प्रमुख पोत-वणिक् अरहन्नक अनुकूल वायु होने पर गम्भीरपत्तन से चम्पा हेतु प्रस्थान किया था।^४ प्राचीनकाल में जलयान आज जैसे सुदृढ़ नहीं होते थे। फलतः समुद्री तूफानों और विशाल चट्टानों से टकराकर क्षतिग्रस्त हो जाते थे। दुर्घटना में यात्री डूब भी जाते थे।^५

कुछ लोग सम्भावित तूफान का संकेत-ग्रहण करने में सक्षम होते थे। कुवलयमाशकहा से ज्ञात होता है कि सार्थवाह सागरदत्त का पंजरपुरुष (ऋतु विशेषज्ञ) उत्तर दिशा के काले मेघों को देखकर आशंकित हो गया, उसने सामग्री को नीचे तलवर में भेजकर, यान-रज्जुओं को ढीला कराकर तत्काल यान को स्थिर कराया था।^६

दुर्भाग्यवश कभी-कभी समुद्री तूफानों में फँसकर लोग अज्ञात द्वीपों में पहुँच जाते थे। तब उस मार्ग से जाने वाले दूसरे यानों का ध्यान आकर्षित कर सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। वे ऊँचे वृक्षों पर

१. हरिभद्रसूरि—समराइच्चकहा ४/२४६

२. निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ६००२, ६००३

३. ज्ञाताधर्मकथांग ८/६९, ७०

४. ज्ञाताधर्मकथांग ८/८४

५. वही ९/१०

६. 'पंजर-पुरिसेण उत्तर-दिसाए दिट्ठं एक्कं सुप्पममाणं कज्जल कसिणं मेह-पडलं' उद्योतनसूरि—कुवलयमाला, पृष्ठ १०६

कपड़े की ध्वजा बनाकर टांग देते थे। वृक्ष पर फहराती ध्वजा समुद्र के मध्य क्षतिग्रस्त पोत के विपत्तिग्रस्त यात्रियों की उपस्थिति की ओर संकेत करती थी।^१ वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि समुद्रयात्रा में सानुदास और सागरदिन्ना का जलयान नष्ट हो गया था। वे तैरते हुये किसी प्रकार एक द्वीप पर पहुँचे, वहीं रहने लगे और विवाह भी कर लिया। उस द्वीप से निकलने के लिये वहाँ से जाते हुये जलयानों का ध्यान आकर्षित करने के लिये उन्होंने ऊँचे वृक्ष पर ध्वजा फहरा दी और अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी।^२ इसी प्रकार कुवलयमालाकहा के उल्लेख के अनुसार पाटलिपुत्र का धन नामक व्यापारी जब रत्नद्वीप जा रहा था तो उसका पोत क्षतिग्रस्त हो गया, वह भटकता हुआ ऐसे द्वीप में पहुँच गया, जो अनेक हिसक जानवरों से युक्त था तथा वहाँ के फल कड़वे थे। इसी प्रकार दो अन्य यात्री भी वहाँ पहुँचे, तीनों ने आपस में परामर्श करके एक ऊँचे वृक्ष पर “भिन्नपोतध्वज” के रूप में बलकल टाँग दिये।^३

जलमार्गों से यात्रा करने वालों की सुरक्षा हेतु राज्य द्वारा किये जाने वाले प्रबन्ध के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों में कोई उल्लेख नहीं है। जबकि कौटिलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि राज्य जलमार्गों की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखता था। राज्य की ओर से नियुक्त पोतवाध्यक्ष का यह कर्तव्य था कि वह यात्रा करने वाले जलयानों और नावों की सुरक्षा का ध्यान रखे। नौका-संचार सम्बन्धी असावधानी के कारण होने वाली क्षति की पूर्ति नौका या प्रवहण के स्वामी को करनी पड़ती थी।^४

जलवाहन

नौका, पोत और जलयान जलमार्ग से यात्रा के साधन थे। निशीथ-चूर्णि में चतुर्विध जलयानों का उल्लेख है, जिनमें से एक समुद्री मार्ग के उपयुक्त माना जाता था और शेष तीन नदियों और झीलों में चलते थे।^५ समुद्र में चलने वाले जलयान को “पोत” और “प्रवहण” कहा

१. संघदासगणि—वसुदेवहिण्डी, भाग १, पृ० २५३

२. वही भाग १, पृ० २५३

३. उद्योतनसूरि—कुवलयमालाकहा, पृ० ८९

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/२८/४५

५. उदगे चउरो णावाप्पगारा भवन्ति । तत्थ एगा समुदे भवन्ति तिण्णि तिण्णि य समुदातिरित्ते जले । निशीथचूर्णि, भाग १, गाथा १८३

जाता था ।^१ निशीथचूर्णि में उन्हें “यानपट्ट” कहा गया है ।^२ आचारांग में नदियों में चलने वाली तीन प्रकार की नौकाओं—ऊर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी और तिर्यग्गामिनी का उल्लेख है । प्रवाह के प्रतिकूल जाने वाली नौका को ऊर्ध्वगामिनी”, प्रवाह के अनुकूल जाने वाली को अधोगामिनी और एक किनारे से दूसरे किनारे तिरछे जाने वाली को तिर्यग्गामिनी कहा जाता था ।^३ जलपोत लकड़ी के तख्तों से निर्मित होते थे । इनमें पतवार, रज्जु और डंडे लगे रहते थे ।^४ समुद्र में चलने वाले जलपोतों में कपड़े के पाल लगे रहते थे जिनकी सहायता से हवा कम होने पर भी जलपोत तीव्र गति से चलता था ।^५ जलपोतों को रोकने के लिये लंगरों का प्रयोग किया जाता था ।^६ इन जलपोतों में एक ऐसा जलयंत्र लगा होता था, जिसको पैर से दवाने से यान दायें-बायें मुड़ सकता था ।^७

ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि जलयानों में विविध प्रयोजनों के लिये स्थान नियत होते थे यथा यान के पिछले भाग में नियामक का स्थान, अग्रभाग में देवता की मूर्ति, मध्यभाग में काम करने वाले गर्भजों और पार्श्व भाग में नाव खेने वाले कुक्षिधरों का स्थान होता था ।^८

निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि चलाते समय यदि कभी नाव में छेद हो जाता और उसमें पानी रिसने लगता तो मूँज और पेड़ की छाल को मिट्टी के साथ कूटकर वस्त्र में लपेट कर छेद भरा जाता था ।^९ विशाल नौकाओं के अतिरिक्त जल संतरण के लिये अन्य साधन भी

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ५, गाथा ५२२३

२. निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ३१८४,

३. आचारांग २.३/१/११८

४. वही २/३/१/११९

५. औपपातिकसूत्र ३२

६. वही

७. ‘बंसो वेणू तस्स अवट्ठंभेण पादेहिं पेरिता णावा गच्छति’

निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ६०१५

८. ज्ञाताधर्मकथांग ८/६९, १७/११

९. निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ६०१७

प्रयोग में लाये जाते थे, जिनमें कुंभ, तुम्ब, दत्ति, उडुप, पणि आदि थे।^१ लकड़ी के चारों ओर घड़े बाँधकर तैरने के लिये बनाई गई नाव को 'कुंभ'^२, रस्सी के जाल में सूखे हुए तुम्बे या अलाबु लगाकर बनाई गई नाव को "तुम्ब"^३, चमड़े के थैले, भेड़, बकरी की खालों में हवा भर कर उन्हें एक दूसरे से बाँधकर तैयार की गई नाव को "दत्ति" कहा जाता था।^४ पश्चिमी भारत में नदियों को पार करने का यह एक सुरक्षित साधन था। पाणिनि ने इसे "भस्त्रा" कहा है।^५ लकड़ियों को आपस में बाँध कर निर्मित नौका "उडुप" कही जाती थी।^६ पाणिनि ने इस प्रकार की लट्ठों या बांस के मुट्ठों में बाँधकर निर्मित नौका को "भरड़ा" कहा है।^७ "पणिण" नामक लताओं से बनाये गये टोकरों की नौका को "पणिण" कहा जाता था।^८

व्यापारिक जलमार्ग

देश की नदियाँ प्रमुख व्यापारिक नगरों को परस्पर जोड़ती थीं। उत्तराध्ययन से ज्ञात होता है कि चम्पा से एक जलमार्ग पिहुंड तक जाता था।^९ पिहुंड पूर्वी तट पर कर्लिगपत्तन के पास का एक जलपत्तन था। पोतवणिक् अरहन्तक के यात्रा-वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि ताम्र-

१. 'कुंभे, दत्तिए, तुम्बे, उडुपे, पण्णी य एमेव'

निशीथचूर्णि भाग १, गाथा १८५, भाग ३, गाथा ४२०९

२. 'चउकट्टि काउं कोणे कोणे घडओ बज्जति, तत्थ अवलंबिउं आरुभिउं वा संतरणं कज्जति' वही भाग १, गाथा १८५, भाग ३, गाथा ४२०९

३. 'तुंबे त्ति मच्छियजालसरिसं जालं काऊण' अलाबुगाण भरिज्जति'

वही भाग १, गाथा १८५

४. 'दत्तिए ति वायफुण्णो, दत्तितो तेण वा संतरणं कज्जति'

निशीथचूर्णि भाग १, गाथा १८५; भाग ३, गाथा ४२०९

५. पाणिनि-अष्टाध्यायी ४/४/१६

६. निशीथचूर्णि, भाग १, गाथा १८५, भाग ३, गाथा ४२०९

७. पाणिनि-अष्टाध्यायी, ४/४/१६

८. 'पणिणमया महंता भारगा बज्जति ते जमला दंघेउ ते य अवलंबिउं संतरणं कज्जति।' निशीथचूर्णि भाग १, गाथा १८५

९. उत्तराध्ययन २१/२, ४

लिप्ति से एक जलमार्ग मिथिला तक जाता था ।^१ सौराष्ट्र के तैयालग पत्तन (वेरावल) से एक जलमार्ग बारबई पत्तन (द्वारका) तक जाता था ।^२ व्यापारी समुद्री मार्ग द्वारा वारिवृषभ (“दक्षिण का एक स्थान”) से पाण्डु मथुरा (मदुराई) तक जाते थे ।^३

ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लिखित है कि हस्तिशीर्ष नगर के पोतवणिक् कलिकाद्वीप जजीवा तक गये थे ।^४ वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि चारुदत्त समुद्री मार्ग से चीन गया था और लौटते हुये स्वर्णभूमि, कमलपुर, यवद्वीप, सिंहलद्वीप और बम्बर, यवण होता हुआ सौराष्ट्र पहुँचा था । फाह्यान भी पाटलिपुत्र से चम्पा होता हुआ ताम्रलिप्ति पहुँचा और वहाँ से सिंहलद्वीप होता हुआ समुद्रीमार्ग द्वारा चीन पहुँचा था ।^५ कुवलयमालाकहा में सोपारक से चीन और महाचीन जाने का उल्लेख है ।^६ सोपारक से रत्नद्वीप, बम्बरकुल जाने के भी समुद्री मार्ग थे ।^७ पाटलिपुत्र से जलमार्गी द्वारा रत्नद्वीप और कुडगद्वीप भी जाने का वर्णन है ।^८ कुवलयमालाकहा में उल्लिखित कुछ स्थानों की पहचान करना कठिन है । अनुमानतः ये स्थान काल्पनिक थे या अब तक नष्ट हो चुके हैं ।

प्राचीनकाल में हवाओं का दिशाज्ञान व्यापारियों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता था । उत्तरपूर्वी हवायें भारत से अफ्रीका जाने में

१. ज्ञाताधर्मकथांग ८/८१

२. तैयालग-पट्टणाओ बारवई गम्मइ—निशीथचूर्णि भाग १, गाथा १८३

३. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० १५७

४. ज्ञाताधर्मकथांग १७/१३

५. डॉ० मोतीचन्द्र ने अपनी पुस्तक ‘सार्थवाह’ में कलिकाद्वीप को अफ्रीका का जंजीवार द्वीप कहा है,

५. संघदासगणि—वसुदेवहिण्डी भाग १ पृ० १४६

स्वर्णभूमि की पहचान बर्मा, कमलपुर की कम्बोडिया, यव द्वीप की जावा से, सिंहलद्वीप की लंका से यवनद्वीप की सिकन्दिया से, और बम्बर की पहचान बार्बरिकम से की जाती है ।

६. घोष, नरेन्द्रनाथ—ऐन अली हिस्ट्री आफ इण्डिया, २६८

७. कुवलयमालाकहा, पृष्ठ ८८

८. उद्योतनसूरि—कुवलयमालाकहा, पृ० ६५, ८८

९. वही, पृ० ८८

१३६ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

सहायता देती थीं। इसी प्रकार पश्चिमी हवाई अफ्रीका या उसके आसपास के इलाकों से पश्चिमी भारत की यात्रा को सुविधाजनक बनाती रही हैं। चम्पा नगरी के व्यापारी अनुकूल वायु होने पर कलिकाद्वीप गये थे और वहाँ से अनुकूल वायु होने पर ही वापसी यात्रा हेतु प्रस्थान किये।

वायु-मार्ग

प्राचीन भारतीय साहित्य में आकाश में उड़ने वाले देवयानों और विमानों का वर्णन मिलता है।^१ परन्तु व्यापार अथवा किसी आर्थिक लाभ हेतु वायुमार्ग के उपयोग के सम्बन्ध में जैनग्रन्थों में कोई विवरण नहीं प्राप्त होता।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में देशीय और अन्तर्देशीय व्यापार के लिये मुख्यतः जल और स्थल मार्ग ही थे। जल-स्थल के विभिन्न साधनों के परिणामस्वरूप व्यापार में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई थी।

३-सिक्के

प्राचीनकाल से ही भारत में वस्तुओं के क्रय-विक्रय और परस्पर विनिमय हेतु सिक्कों का प्रचलन था। पाणिनि के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वैदिककाल में स्वर्ण “निष्क” सिक्कों और आभूषण दोनों रूपों में प्रयुक्त होते थे।^२ जैन ग्रन्थ सूत्रकृतांग में ‘मास’, ‘अर्धमास’, और ‘रुवग’ को क्रय-विक्रय का साधन कहा गया है।^३ पिंडनियुक्ति के अनुसार दास-दासी को उनका पारिश्रमिक सोने, चाँदी और ताँबे में दिया जाता था।^४ इससे स्पष्ट है कि उक्त धातुओं के सिक्के निर्मित किये जाते होंगे और श्रमिकों को उनका पारिश्रमिक सिक्कों के रूप में प्रदान किया जाता होगा। सिक्कों के प्रचलन से व्यापारिक गतिविधियों में भी सुविधा हो गई थी। सिक्कों के माध्यम से व्यापारी न केवल स्वदेश में अपितु विदेशों में भी व्यापार करते थे।^५

१. राजप्रश्नीयसूत्र ४

२. पाणिनि—अष्टाध्यायी ५/११/१९

३. कय-विक्रय-मास-अर्धमास-रुवग संवहंहराओ

सूत्रकृतांग २/२/७/३

४. पिंडनियुक्ति गाथा ४०५

५. कुवलयमालाकहा, पृ० ५८

जैन ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर हिरण्य और सुवर्ण के उल्लेख आये हैं। इससे प्रतीत होता है हिरण्य और सुवर्ण उस युग के प्रचलित सिक्के थे। **ज्ञाताधर्मकथांग** में वर्णन है कि राजा श्रेणिक ने अपनी पुत्रवधुओं को आठ करोड़ 'हिरण्य' और आठ करोड़ 'सुवर्ण' प्रदान किये थे,^१ लेकिन डॉ० भण्डारकर ने हिरण्य को सिक्का नहीं स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'स्वर्णपिण्ड' को 'हिरण्य' कहा जाता था और चिह्नित स्वर्ण सिक्कों को भी 'सुवर्ण' कहा जाता था।^२

सिक्कों की निर्माण-विधि

सिक्कों के निर्माण की दो विधियों के अस्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम ढालकर निर्मित और द्वितीय ठप्पे की विधि से निर्मित सिक्के। ढाले सिक्के के निर्माण में धातुओं को पिघलाकर साँचे में ढालकर सिक्के बनाये जाते थे। साँचों पर पशु, पक्षी, मनुष्य, वृक्ष, धार्मिक प्रतीक, नदी, पर्वत, हाथी आदि बने रहते थे। साँचे तैयार करके भट्ठी में रख दिये जाते थे, जब वे पककर तैयार हो जाते थे तो उनके मध्य बिन्दु से धातु डाली जाती थी और पिघली धातु उचित स्थान पर पहुँचकर विशिष्ट आकार में फैल जाती थी और साँचे पर अंकित चिह्न तथा लेख धातु पर अंकित हो जाते थे।^३ इससे भिन्न ठप्पे की विधि से तैयार किये जाने वाले सिक्कों के लिए किसी धातुपिण्ड के सममाप के टुकड़े काटकर उन्हें तप्त कर, ठप्पे से दबाकर चिह्नित और लेखयुक्त कर बनाया जाता था। इन्हें 'पंचमार्क', 'आहत' या चिह्नित सिक्के कहा जाता है। भारत के उत्तर पश्चिमी भाग और गंगा की घाटी में ये सिक्के प्रचलित थे। तक्षशिला की खुदाई में इस प्रकार के सिक्के मिले हैं।^४ जैनग्रन्थ **आवश्यकचूर्णि** के अनुसार वे ही सिक्के शुद्ध और प्रामाणिक माने जाते थे जिन पर उनकी शुद्धता की परीक्षा करके चिह्न अंकित कर दिये जाते थे।^५ **पिंडनियुक्ति** से पता चलता है कि ये सोने, चाँदी और ताँबे के बनाए जाते थे।^६

१. "अट्ठ हिरण्णकोडीओ अट्ठसुवण्ण कोडीओ पीइयाणं दलयंहि
ज्ञाताधर्मकथांग १/९१

२. वसुदेव उपाध्याय—प्राचीन भारतीय मुद्रायें, पृ० १०

३. वही, पृ० १५

४. वही, पृ० १४, १६

५. जत्थ रूपकं जत्थ सुद्धंतं समक्खरं सो छेको भवति

आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० २७

६. पिंडनियुक्ति, गाथा ४०५

स्वर्ण-सिक्के

स्वर्ण सिक्कों में निष्क, सुवर्ण, दीनार, केवडिक और सुवर्णमाष के उल्लेख प्राप्त होते हैं। निष्क एक स्वर्ण धातु का सिक्का था। पाणिनि ने १०० निष्क के धारक को 'नैष्कशतिक' और १००० निष्क के धारक को नैष्कसहस्रिकी संज्ञा दी है।^१ बृहत्कल्पभाष्य में निष्क का उल्लेख हुआ है पर लगता है कि शास्त्रकार ने प्रसंगवश ही इसका उल्लेख किया है क्योंकि बृहत्कल्पभाष्य के रचनाकाल में ये सिक्के प्रचलित नहीं थे। बौद्ध ग्रन्थों में भी कई स्थानों पर निष्क का उल्लेख हुआ है। भूरिजातक के अनुसार एक शिकारी ने मणि प्राप्त करने हेतु एक ब्राह्मण को १०० निष्क दिये थे।^२ निशीथचूर्णि के अनुसार सोने के 'णाणक' (सिक्के) को पूर्व देश में 'दीनार' कहा जाता था।^३ आधुनिक विद्वानों के विचार में रोम के 'डिनेरियस' के नाम पर स्वर्ण सिक्कों को दीनार कहा जाता था, इसका भार भी रोमन पद्धति के अनुसार १२४ ग्रेन था।^४ कल्पसूत्र के अनुसार महावीर की माता को आने वाले जिन १४ स्वप्नों की चर्चा है उनमें एक स्वप्न का दीनारों की माला धारण किये हुये बताया गया है।^५ कल्पसूत्र का रचनाकाल लगभग प्रथम शताब्दी माना जाता है, अतः उस युग तक भारतीय निश्चय ही 'दीनार' से परिचित हो गये थे। निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि मयूरंक नामक राजा ने दीनार सिक्कों पर अपने चित्र अंकित कराकर उसे प्रवर्तित किया था।^६

वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि एक धूर्त साधु के वेष में सार्थवाह के पास गया और कहने लगा यह देखो मुझे भिक्षा में ५०० दीनारें प्राप्त हुई हैं। मैं इनको सुरक्षित रखकर तुम्हारे साथ जंगल पार करना चाहता

१. पाणिनि-अष्टाध्यायी ५/१/१९

२. भूरिजातक-आनन्द कौसल्यायन, जातककथा ६/२१४

३. 'पीय त्ति सुवन्नं, जहा पुब्बदेसे दीणारो'

निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ३०७०

४. राखालदास बनर्जी—प्राचीन मुद्रायें, पृ० १५७

५. 'उरत्थदीणारमलियाविरइणं' कल्पसूत्र, सूत्र ३७

६. 'मयूरंको णाम राया। तेण मयूरंकेण अंकिता दिणारा'

निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ४३१६

हूँ। रास्ते में उसने धोखे से उन सबको भोजन में विष खिलाकर मार डाला और उनका धन लूट लिया।^१

उत्तराध्ययनचूर्णि से ज्ञात होता है कि अचल व्यापारी ने गणिका को ८०० दीनारों प्रदान की थीं।^२ **आवश्यकचूर्णि** के अनुसार एक राजा ने एक कार्पाटिक को दक्षिणा में एक युगलवस्त्र और दीनार भेंट किया था।^३ इसी प्रकार एक वणिक् ने एक गरीब से शर्त लगाई थी कि माघ के महीने में जो सारी रात पानी में बैठेगा उसे एक हजार दीनार प्राप्त होगा।^४ **दशवैकालिकचूर्णि** से ज्ञात होता है कि किसी राजा ने साँप मारने के लिए पारितोषिक के रूप में एक दीनार प्रदान करना नियत किया था।^५ **बृहत्कल्पभाष्य** के अनुसार पूर्व देश में एक और सिक्का प्रचलित था जिसे 'केवडिक' कहा जाता था। इसकी धातु का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है पर स्वर्ण सिक्कों के साथ ही उल्लेख होने से सम्भवतः यह भी स्वर्ण सिक्का ही हो। इसी सिक्के को अन्यत्र 'केतरात' कहा जाता था।^६ **निशीथचूर्णि** में भी 'केवडिय' केवग का उल्लेख है। इस सिक्के का अन्य कहीं उल्लेख नहीं मिलता, अतः यह किसी प्रांत-विशेष का सिक्का रहा होगा।

सोने के छोटे सिक्के को 'सुवर्ण माष' कहा जाता था। **उत्तराध्ययन** में उल्लेख है कि श्रावस्ती का एक सेठ प्रतिदिन दो सुवर्णमाषक उस भिखारी को देता था जो उसके द्वार पर सर्वप्रथम पहुँचता था।^७ इसी प्रकार **निशीथचूर्णि** से भी ज्ञात होता है कि एक राजा ने प्रसन्न होकर अपने

१. संघदासगणि—वसुदेवहिण्डी, भाग १, पृ० ४३

२. अट्ठसयं दिणारायण तीए भाडि नितित्त दिन्नं—उत्तराध्ययनचूर्णि ४/११९

३. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० १६७

४. वही १/५२३

५. दशवैकालिकचूर्णि, पृ० ४२

६. कवड्डगमादी पंच, रूपे पीते तदेव केवडिए।

बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १९६९

'पीय', त्ति सुवन्नं, जहा पुव्वदेसे दीणारो। केवडिओ यथा तत्रैव केतराता

निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ३०७०, ३०३७, ३७१४

७. उत्तराध्ययन ८/१७; उत्तराध्ययनचूर्णि ८/१६९

भृत्य की भृत्ति में एक सुवर्ण माषक प्रतिदिन की वृद्धि कर दी थी।^१ उत्खनन से प्रचुर मात्रा में सुवर्ण सिक्कों की प्राप्ति गुप्तकाल की समृद्ध आर्थिक व्यवस्था की ओर संकेत करती है क्योंकि चन्द्रगुप्त प्रथम से लेकर विष्णुगुप्त तक लगभग सभी शासकों ने सोने के सिक्के प्रचलित किये थे।

रजत-सिक्के

खुदाई में प्राचीनकाल के चाँदी के सिक्के प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुए हैं। चाँदी के सिक्कों में 'कार्षापण', 'पाद कार्षापण', माष-कार्षापण, रुवग, सुभाग, नेलक और द्रम्म का उल्लेख हुआ है। चाँदी के गोल और चौकोर आयत सिक्कों को कार्षापण कहा जाता था। डा० वसुदेव उपाध्याय के अनुसार कार्षापण का मूल्य नाप-तौल के आधार पर निर्धारित किया गया था। रत्ती को कर्ष और कर्ष द्वारा तौले जाने वाले सिक्के को कार्षापण कहा जाता था। **उत्तराध्ययन** से ज्ञात होता है कि एक 'द्रमक' (ब्राह्मण भिक्षु) ने यत्न-पूर्वक एक सहस्र कार्षापण अर्जित किये और सार्थवाह के साथ गाँव की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में उसने एक कार्षापण को भुनाकर कई काकिण्यां प्राप्त कीं और वह प्रतिदिन भोजन-हेतु एक काकिणी व्यय करता था।^२

इस प्रकार **विपाकसूत्र** के अनुसार एक गणिका एक रात के लिए एक सहस्र कार्षापण ग्रहण करती थी।^३ सम्भवतः कार्षापण सिक्के चाँदी के ही होंगे, क्योंकि दैनिक उपयोग की वस्तुओं का मूल्य सुवर्णमुद्राओं में होना अस्वाभाविक लगता है। कार्षापण के छोटे सिक्के भी प्रचलित थे, अर्ध-मूल्य के सिक्के को 'अर्ध-कार्षापण' और चौथाई मूल्य के सिक्के को 'पाद-कार्षापण' कहा जाता था। सोलहवें भाग का सिक्का 'माष-कार्षापण' कहा जाता था। **मनुस्मृति** में चाँदी के कार्षापण को धरण और पुराण संज्ञा दी गई है।^४ **उत्तराध्ययन** में 'कूड कहावण' (छोटे कार्षापण) का उल्लेख हुआ है,^५ जिसे अप्रामाणिक माना जाता था। छोटे सिक्के से जीविको-

१. 'पतिदिवसं सुवर्णमासतो वित्ति कता'

निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ६५४१

२. उत्तराध्ययन ४/१६१

३. विपाक २/२

४. मनुस्मृति ८/३६

५. उत्तराध्ययन २०/४२

पार्जन करने वाले को 'कूडकहापणोजीवी' कहा गया है।^१ यह उल्लेख ईंगित करता है कि कुछ लोगों की आजीविका खोटे-सिक्कों पर निर्भर थी। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी खोटे सिक्के बनाने वाले दण्ड के भागी बताये गये हैं।^२

चाँदी के सिक्के स्वग और रूप्य नाम से भी प्रचलित थे। भिन्न-भिन्न राज्यों में स्वग, भिन्न-भिन्न मूल्यों और भिन्न-भिन्न नामों से प्रचलित थे। स्वग के मूल्य और नाम में अलग-अलग राज्यों में विभिन्नता थी। सौराष्ट्र और दक्षिणापथ में स्वग को समारग कहा जाता था।^३ निशीथ-चूर्णि में एक राजा द्वारा अपने सिपाहियों को समारगों में वेतन दिये जाने का उल्लेख है।^४

इसी प्रकार उत्तरापथ के स्वग को 'उत्तरपहगा' और दक्षिणापथ के स्वग को 'दक्खिणपहगा' तथा कांचीपुर के स्वग को 'नेलक' कहा जाता था।^५ पाटलिपुत्र में प्रचलित सिक्का प्रामाणिक माना जाता था। बृहत्कल्पभाष्य से सूचित होता है कि दक्षिणापथ के दो स्वगों का मूल्य उत्तरापथ के एक स्वग के मूल्य के बराबर तथा उत्तरापथ के दो स्वगों का मूल्य पाटलिपुत्र के एक स्वग के मूल्य के बराबर था।^६ दक्षिणापथ के दो स्वगों का मूल्य कांचीपुर के एक नेलक के मूल्य के बराबर था और कांचीपुर के दो नेलकों का मूल्य पाटलिपुत्र के एक स्वग के मूल्य के बराबर था।^७ पं० दलमुख मालवणिया के अनुसार इन सिक्कों का प्रचलन संभवतः सौराष्ट्र और गुजरात में रहा होगा, क्योंकि उत्तरापथ और दक्षिणापथ

१. प्रश्नव्याकरण २/३

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र ४/१/७६

३. निशीथचूर्णि—दोसाभरगाथे दीविक्चगाउ सो उत्तरापथे एक्को।

निशीथचूर्णि भाग २, गाथा ९५८,

बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, गाथा ३८९१

४. वही, भाग ३, गाथा ५०३६

५. बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, गाथा ३८९१; निशीथचूर्णि, भाग २, गाथा ९५८

६. 'दो साभरगा दीविक्चगाउ सो उत्तरापथे एक्को; दो उत्तरपहगा पुण, पाडलिपुत्तो हवति एक्को' बृहत्कल्पभाष्य ४/३८९१

७. 'दो दक्खिणावहा, तु कंचीए गेलओ स दुगुणो य एगो कुमुमगरगो' वही ४/३८९२; निशीथचूर्णि, भाग २, गाथा ९५९

की मुद्रायें अपने स्वयं के प्रदेश में उत्तरापथक, दक्षिणापथक या पाटलि-पुत्रक आदि नाम से नहीं पहचानी जा सकतीं। यह नाम अन्यत्र प्रचलित मुद्राओं के ही हो सकते हैं।^१ निशीथचूर्णि में वस्त्रों के मूल्य का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि वस्त्र का न्यूनतम मूल्य १८ रुवग और अधिक-तम मूल्य शतसहस्र रुवग है।^२ इसी प्रकार बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार एक ग्राहक एक गंधी-विक्रेता के पास रुवग लेकर मदिरा लेने गया था।^३ जिनदासगणि के अनुसार सोपारक का राजा व्यापारियों के नैगमों से एक रुवग प्रति परिवार 'कर' ग्रहण करता था।^४ उत्तराध्ययनचूर्णि में उल्लेख है कि एक आभीर-स्त्री ने रुवग देकर एक वणिक् से रुई खरीदी थी।^५ दशाश्रुतस्कन्ध से ज्ञात होता है कि दैनिक व्यवहार और क्रय-विक्रयार्थ 'माषार्ध' और माष-रूप्य का प्रयोग किया जाता था।^६

बृहत्कल्पभाष्य में भिल्लमाल में प्रचलित चाँदी के एक अन्य सिक्के 'द्रम्म' का उल्लेख है।^७ पिंडनियुक्ति में भी द्रम्म का उल्लेख हुआ है।^८ मेगस्थनीज ने भी 'द्रम' संज्ञक चाँदी के यूनानी सिक्के के प्रचलन के विषय में लिखा है।^९ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि दक्षिणापथ में चाँदी की 'काकिणी' भी प्रचलित थी।^{१०}

ताम्र-सिक्के

उत्खननों में ताँबे के सिक्के प्राप्त हुए हैं। प्रतिदिन के व्यवहार में ताँबे के सिक्कों का प्रयोग होता था। ताँबे के सिक्कों में पण, माष और काकिणी का उल्लेख हुआ है। मनुस्मृति में ताम्र-कार्षापण को पण कहा

१. देखिये-निशीथचूर्णि, एक अध्ययन, पृ० ७६

२. निशीथचूर्णि २/९५७; बृहत्कल्पभाष्य ४/३८९०

३. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १९६५

४. निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ५१५६

५. उत्तराध्ययनचूर्णि ४/११३

६. दशाश्रुतस्कन्ध ६/१८९

७. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १९६९

८. पिंडनियुक्ति गाथा ८७

९. पुरी वैजनाथ-इण्डिया ऐज डिस्क्राइड बाई अली ग्रीक राइटर्स, पृ० ६४

१०. 'जहा दक्षिणावहे कागणोरुप्पमयं'

निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ३०७०

गया है।^१ ताँबे के कार्षापण का सोलहवाँ भाग माषकार्षापण था। ताँबे का एक छोटा सिक्का काकिणी भी था जो दक्षिण भारत में प्रचलित था।^२ उत्तराध्ययनचूर्णि में इसका मूल्य स्वर्ग का १/८० भाग बताया गया है।^३ इसी प्रकार स्वर्ग का १/२० भाग 'विशोपक' नाम का सिक्का भी प्रचलित था।^४ निशीथचूर्णि के अनुसार प्रतिदिन के व्यवहार में ताम्र के सिक्कों का प्रयोग किया जाता था।^५ वसुदेवहिण्डी में एक व्यापारी का उल्लेख हुआ है जिसने व्यापार में व्यवहार हेतु पणों से भरी बोरी गाड़ी रखी थी, जब वह एक सार्थ के साथ यात्रा कर रहा था तो मार्ग में उसकी बोरी कट गई और उसके सारे पण गिर गये, वह अपनी गाड़ियों को रोककर पण इकट्ठा करने लगा। सारा सार्थ आगे निकल गया। वह बीहड़ जंगल से रह गया। चोरों ने उसे अकेला पाकर उसका सारा धन लूट लिया।^६ वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि एक तीतर का मूल्य एक "कहावण" (कार्षापण) था। निश्चय ही यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय ताँबे के कार्षापण से रहा होगा, क्योंकि अन्य वस्तुओं के मूल्य को देखते हुये एक तीतर का मूल्य रजत कार्षापण नहीं हो सकता।^७

उत्तराध्ययनचूर्णि में एक मूर्ख "द्रमक" (भिक्षुक) की कथा मिलती है जिसने "काकिणी" के लिये अपने हजार कार्षापण खो दिये थे।^८ वसुदेवहिण्डी में "निष्पाव" नामक सिक्के का भी उल्लेख हुआ है वह स्पष्ट नहीं होता कि यह किस धातु का है पर ऐसे एक सिक्के में एक आदमी को भोजन कराया जा सकता था।^९ इससे प्रतीत होता है कि यह

१. मनुस्मृति ८/१३०

२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १९६९

३. उत्तराध्ययनचूर्णि ४/१६१

४. वही ४/१६१

५. 'ताम्रमयं वा जं णाणगं ववहरति'

निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ३०७०

६. 'संववहार निमित्त पषाण भरिओ'

संघदासगणि—वसुदेवहिण्डी भाग १, पृ० १३

७. वसुदेवहिण्डी, भाग १, पृ० ५७

८. उत्तराध्ययनचूर्णि ४/१६२

९. वसुदेवहिण्डी, भाग १, पृ० १४४

सिक्का भी ताँबे का ही रहा होगा ताँबे के सिक्के शीघ्र घिस जाते थे और कम मूल्य के भी थे। इसलिए इनको संचय नहीं किया जाता था। सर्वत्र सोने-चाँदी के सिक्कों को ही संचित करने के उल्लेख आये हैं।

अन्य सिक्के

उक्त सिक्कों के अतिरिक्त छोटे सिक्कों के रूप में कौड़ियों का भी प्रयोग होता था। यह समुद्री जीव के शरीर का आवरण था। बृहत्कल्प-भाष्य में इसे कवडुक कहा गया है।^३ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि लेनदेन में कवडुक का व्यवहार होता था।^४ चीनी यात्री फाह्यान ने भारत में कौड़ियों का प्रयोग देखा था।^५ कौड़ी विनिमय के लिए एक छोटा सिक्का था। इसकी क्रयशक्ति न्यूनतम थी। उत्तरपुराण से ज्ञात होता है कि एक नैमित्तिक की पत्नी ने क्रोधित होकर कौड़ियों को फेंक दिया था, क्योंकि उसके पति ने अपने परिश्रम के प्रतिफल में कुछ कौड़ियाँ ही प्राप्त की थीं।^६ इसी प्रकार निशीथचूर्णि में 'भिन्नमाल' में प्रचलित चमड़े के सिक्के 'चम्मलात' का उल्लेख हुआ है।^७

चाँदी के वतुलाकार और वर्गाकार सिक्के प्राप्त हुए हैं इन्हें मुद्रा-तत्त्वविदों ने चिह्नित या आहत सिक्के कहा है। विद्वानों के अनुसार सोने के सिक्के गुप्त काल में सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त 'प्रथम' ने निर्गत किए, जिसका परवर्ती राजाओं ने अनुकरण किया था।^८ सोने-चाँदी के सिक्कों का मूल्य पारस्परिक अनुपात में निर्धारित होता था। लेकिन किस अनुपात में, इनका मूल्य-निर्धारण किया जाता था इसका जैन ग्रन्थों में कोई वर्णन नहीं मिलता है। निश्चय ही यह अनुपात भी धातुओं की उपलब्धि के अनुसार घटता-बढ़ता रहता होगा। ईसवी सन् १२० के नासिक गुहा लेख के अनुसार चाँदी के ७० हजार कार्षापण २ हजार सुवर्ण मुद्राओं के बराबर थे, अर्थात् ३५ कार्षापण का एक सुवर्ण था।^९

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २ गाथा १९६९

२. 'कवडुगा से दिज्जंति' निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ३०७०

३. करेंसी एण्ड एक्सचेंज इन ऐशियंट इण्डिया, पृ० ४३

४. उत्तरपुराण, पृष्ठ १५१

५. जहाभिल्लमाले चम्मलातो निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ३०७०

६. उपाध्याय, वसुदेव—प्राचीन भारतीय मुद्रायें, पृ० १४१

७. मध्यकालीन नासिक गुहालेख पंक्ति ५

८. ए० के० नारायण—प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह २/३४

प्राचीनकाल में कभी-कभी लोग धातु और सिक्के का वर्णन किये बिना ही सम्पत्ति की गणना लाखों-करोड़ों में करते थे। जैसे आज भी किसी को एक लाख रुपये का स्वामी कहने के बदले में लखपति ही कह दिया जाता है। संभवतः प्राचीनकाल में भी किसी एक सिक्के का प्रचलन इतना अधिक था कि उसका नाम न लेने पर भी आशय निकल आता था।

टकसाल

सम्भवतः आगमकाल में सिक्कों के निर्माण के लिए अलग से टकसाल नहीं होते थे, क्योंकि राज्यनिगम और श्रेणियों पर इसका दायित्व था। तक्षशिला से उत्खनन में प्राप्त सिक्कों पर नैगम शब्द अङ्कित मिला है। संभवतः ये सिक्के किसी निगम द्वारा प्रवर्तित किये गये हों।^१ राज्य द्वारा भी सिक्के निर्मित किये जाते थे। निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि मयूरांक नामक राजा ने अपने चित्र के साथ दोनार नामक सिक्का प्रचलित किया था।^२ कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार सिक्के ढालने का काम राज्य के अधीन था। सिक्के ढलवाने का दायित्व लक्षणाध्यक्ष नामक राज्याधिकारी पर था। लोग अपने पास से धातु देकर भी प्रामाणिक संस्था से सिक्के ढलवा सकते थे, लेकिन ऐसे सिक्के विदेशी व्यापार हेतु वैध नहीं माने जाते थे।^३ अप्रामाणिक या अमान्य सिक्कों का प्रयोग प्राचीनकाल में भी निषिद्ध था। निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि एक राज्य में एक व्यक्ति से सिपाहियों ने मयूरांक राजा द्वारा निर्मित चिह्न वाले सिक्कों को छीन लिया था, क्योंकि उस समय उस राज्य में उन सिक्कों का प्रचलन नहीं था।^४

सिक्कों की क्रय-शक्ति

सिक्कों का मूल्य धातु और उसके आकार पर निर्भर करता था। स्वर्ण सिक्के सबसे मूल्यवान माने जाते थे। मूल्यवान वस्तुओं यथा भूमि के क्रय-विक्रय का मूल्य-निर्धारण स्वर्ण सिक्कों में होता था। सोने-चाँदी की क्रयशक्ति अधिक होने के कारण दैनिक व्यवहार में इनका प्रयोग नहीं होता था। मूल्यवान धातुओं के रूप में लोग इनका संचय करते थे। दैनिक व्यवहार में ताँबे के सिक्कों और कौड़ियों का प्रयोग होता था।

१. उपाध्याय वसुदेव—प्राचीन भारतीय मुद्रायें, पृ० ३२

२. निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४३१६

३. कौटिलीय अर्थशास्त्र ४/१/७६

४. निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४३१६

उत्तराध्ययनचूर्णि से ज्ञात होता है कि एक व्यक्ति एक काकिणी में भोजन कर सकता था इससे स्पष्ट है कि खाने-पीने की वस्तुएँ सस्ती थीं।^१ जैन ग्रन्थों में सुवर्ण सिक्कों के उक्त उल्लेखों से कुषाणकाल और पूर्व गुप्तकाल एवं गुप्तकाल की व्यापारिक अवस्था पर प्रकाश पड़ता है। सिक्कों के बहुत अधिक प्रचलन से ही आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई थी।^२

गुप्तकाल में भोज्य पदार्थों का मूल्य अत्यल्प होने से ही डेढ़ या दो दोनार वार्षिक में एक मनुष्य का निर्वाह भलीभाँति हो जाता था। इसी कारण इस काल में विनिमय के लिये कौड़ियों का प्रचलन था।



१. उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० १६२

२. चन्द्रगुप्त द्वितीय का साँची प्रस्तर अभिलेख,
नारायण ए० के०, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह २, पृ० ३५

अध्याय ६

वितरण

प्राचीन जैन साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में देश धनधान्य से परिपूर्ण था। व्यापार और उद्योगों से देश की आर्थिक समृद्धि में वृद्धि हुई थी। किन्तु यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि सम्पूर्ण राष्ट्र ही ऐश्वर्ययुक्त सुख-सुविधाओं का भोग कर रहा था या केवल विशेष वर्ग।

राष्ट्र में उत्पादन के साधन—भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध और व्यवस्था—प्राकृतिक साधनों की सहायता से नियत अवधि में विभिन्न सामग्रियों की निर्धारित मात्रा उत्पन्न करते हैं। उत्पत्ति की यही निश्चित मात्रा काल-विशेष की राष्ट्रीय आय मानी जाती है। उत्पादन के साधनों में राष्ट्रीय आय के विभाग को वितरण कहा जाता है। वितरण में भूस्वामी को भूमि का लगान श्रमिकों को पारिश्रमिक, पूँजीपति को ब्याज, प्रबन्धक को लाभ अथवा हानि मिलते हैं। आर्थिक शक्ति का प्रसार, उसकी सीमा एवं जन-सामान्य की सम्पन्नता तथा विपन्नता एवं इसका राष्ट्र की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव इन सबका विवेचन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

१—लगान

भूमि की मौलिक और उर्वरक शक्तियों के उपयोग के बदले दिये जाने वाले अंश को भाग या लगान कहा जाता था। आवश्यकचूर्णि में उल्लिखित है कि खेतों में उत्पन्न कुल उपज का $\frac{1}{8}$ या $\frac{1}{10}$ भाग जो राजा को प्रदान किया जाता था वह खेतकर या सीता कहा जाता था।^१

प्राचीनकाल में राजा ही भूपति माना जाता था, इसलिये भूमि के उपयोग के बदले दिये जाने वाले 'अंश', 'भाग' या 'लगान' का वही अधिकारी होता था। भूमि के अंश की दर भूमि की उर्वरता पर निर्भर करती थी। बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार राज्य भूमि की उपज का $\frac{1}{6}$ से $\frac{1}{10}$ अंश 'भाग' के रूप में ग्रहण करता था।^२ मनुस्मृति में राजदेय अंश

१. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० ८

२. बृहत्कल्पभाष्य भाग ५, गाथा ५२५९, २/१०९२

उपज का १/६, १/८, या १/१२ वर्णित है।^१ उपज का बँटवारा करने वाला राजस्व अधिकारी 'द्रोणमापक' कहा जाता था, वह समग्र उत्पादन का १/६ भाग राज्य-अंश के रूप में ग्रहण करता था।^२ सिंचाई सुविधा प्राप्त उर्वरक भूमि की लगान-दर अधिक होती थी। अपेक्षाकृत कम उपजाऊ और पथरीली भूमि की लगान दर कम होती थी। कौटिलीय अर्थशास्त्र में उल्लिखित है कि नई भूमि को उपजाऊ बनाने वाले कृषक को राज्य बीज, खेती के उपकरण और अन्य सुविधायें प्रदान करता था और कभी-कभी कुछ समय के लिये लगान में कमी कर देता था।^३

जैन साहित्य में उपलब्ध कुछ सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि भूमि पर राजा के स्वामित्व के अतिरिक्त व्यक्तिगत स्वामित्व भी था। गाथापति और समाज का धनिक वर्ग भी पर्याप्त भूमि का स्वामी होता था।^४ ये भूस्वामी स्वयं कृषि न करके उसे भूमिहीन कृषकों को सौंप देते थे और उनसे भूमि के बदले अंश के रूप में उपज का कुछ निश्चित अंश प्राप्त करते थे। प्रश्नव्याकरण में इस प्रकार बटाई पर खेती करने वाले भूमिहीन कृषकों को 'भाइलग' कहा गया है।^५

इससे यह स्पष्ट होता है कि सारी भूमि पर राज्य का अधिकार नहीं था, सम्भवतः राज्य द्वारा ग्रहण किया गया भूमि की उपज का १/६ भाग भूमि-स्वामित्व के लिये न होकर उसे सुरक्षा प्रदान करने के लिए कर के रूप में था। मेगस्थनीज के अनुसार जो किसान राज्य की भूमि जोतते थे, वे राज्य को उपज का १/४ भाग लगान के रूप में देते थे।^६ यद्यपि निशीथ-चूर्णि में भी किराये पर भूमि लेकर कृषि करने का उल्लेख है किन्तु किराये की दर का उल्लेख नहीं है।^७ व्यवहारसूत्र के अनुसार उद्योग स्थापित

१. मनुस्मृति ७/१३०

२. खेर, एन० एन०—एंगरेरियन एण्ड फिजिकल इकानोमी इन मौर्या एण्ड पोस्ट मौर्या एज, पृ० २५४

३. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/१/१९

४. उपासकदशांग १/२८; व्यवहारभाष्य ४/५३; उत्तराध्ययनचूर्णि २/११४, ११८

५. प्रश्नव्याकरण २/१३

६. पुरी, बैजनाथ—इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई अर्ली ग्रीक, राइटर्स, पृ० १७

७. 'जं च पराययं छेत्तं वारंतेण वुत्तं एत्तियं ते दाहंति तं पि दायव्वं'

करने हेतु किराये पर भूमि ली जाती थी।^१ बँटाई पर काम करने वाले किसानों द्वारा अपने स्वामियों को प्रदत्त उत्पादन-अंश का ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है, पर कुछ ऐसे उल्लेख हैं जिनमें भाइलगों के साथ कठोर व्यवहार न करने के आदेश दिये गये हैं।^२ ऐसा प्रतीत होता है कि भाइलगों की आर्थिक दशा बहुत अच्छी नहीं रही होगी, भूमि की उपज का अधिकांश भूस्वामी, गाथापति ले जाते होंगे फलतः उनके पास अपार सम्पत्ति एकत्र हो जाती थी तथा श्रमिकों और भागीदारों को अपनी छोटी से छोटी आवश्यकताओं के लिये भी अपने भूस्वामियों पर निर्भर रहना पड़ता होगा। उत्पादन में सक्रिय भागीदार होने पर भी इस वर्ग को उचित प्रतिफल नहीं मिलता होगा।

२ – पारिश्रमिक तथा वेतन

श्रमिक के शारीरिक और मानसिक श्रम के बदले में उसे दिया गया राष्ट्रीय आय का निश्चित अंश वेतन या पारिश्रमिक कहा जाता है। उच्चवर्गीय जन यथा आचार्य, वैद्य, अध्यक्ष द्वारा अर्जित आजीविका को वेतन कहा जाता था।^३ इसी प्रकार भूमिहीन किसान, श्रमिक, कर्मकर आदि की अर्जित आजीविका भृत्ति कही जाती थी।^४

श्रमिकों को भृत्ति देते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि भृत्ति से उनका भरण-पोषण भलीभाँति हो सके। श्रमिक का भोजन-पानी बन्द करने वाला या श्रम के अनुपात में कम भृत्ति देने वाला पापी माना जाता था।^५ नीतिवाक्यामृतम् में उल्लेख है कि स्वामी को अपने आश्रित को इतना पर्याप्त धन देना चाहिये जिससे वह पूर्ण सन्तुष्ट हो सके।^६

१. व्यवहारसूत्र ९/१७, १८

२. प्रश्नव्याकरण २/१३

३. निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ६०८०; नीतिवाक्यामृतम् १४/३

४. 'भृत्तिं नाम भयगाणं कम्मकराणं ति वुत्तं भवति'

निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४८४८

५. उपासकदशांग १/३२; आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० २८४

६. तावद् देयं यावदाश्रिताः सम्पूर्णतामाप्नुवन्ति।

नीतिवाक्यामृतम् २२/२२

कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में स्पष्ट कहा है कि श्रमिक का वेतन इतना हो, जिससे उसका और उसके परिवार का भरण-पोषण भलीभाँति हो सके।^१ शुक्र ने सेवक के विविध वेतनमानों का उल्लेख किया है—प्रथम, उत्तम जिससे सेवक के सम्पूर्ण परिवार का भरण-पोषण हो सके, द्वितीय, मध्यम जिससे उसकी मौलिक आवश्यकतायें पूर्ण हो सकें और तृतीय, अधम जिससे मात्र एक ही व्यक्ति का पोषण हो सके।^२ भृत्ति श्रमिक की कार्य-क्षमता के अनुसार निश्चित की जाती थी, दायित्व-पूर्ण कार्य करने वाले श्रमिकों की भृत्ति अधिक होती थी और दूसरे श्रमिकों की कम। मनु ने साधारण कार्य करने वाले निकृष्ट दास या दासी के लिये प्रतिदिन एक पण, ६ मास में वस्त्र का एक जोड़ा और एक द्रोण धान्य और अपेक्षाकृत अधिक उत्तर-दायित्वपूर्ण कार्य करने वाले उत्तम दास-दासी को ६ पण, अनाज और वस्त्र देने का विधान किया था।^३ कौटिलीय अर्थशास्त्र में निम्नतम वेतन ६० पण और उच्चतम ४८०० पण वार्षिक देने का उल्लेख है।^४

शुक्र ने तीन प्रकार से भृत्ति का निर्धारण किया है, 'कार्यमाना' अर्थात् कार्यानुसार दी जाने वाली, 'कालमाना' अर्थात् कालानुसार दी जाने वाली और 'कार्यकाला' कार्य और काल दोनों के अनुसार दी जाने वाली भृत्ति।^५ किन्तु निशीथचूर्णि में काल और कार्य के अनुसार भृत्ति निर्धारित की है।^६ काल के अनुसार भृत्ति पाने वाले श्रमिक दैनिक वृत्ति पर काम करते थे, ऐसे श्रमिकों को 'दिवसभयगो' कहा जाता था और इनको सायंकाल भृत्ति प्राप्त होती थी जिससे वे भोजन-सामग्री आदि क्रय कर अपना निर्वाह करते थे। कुछ श्रमिक निश्चित समय तक काम कर अपनी भृत्ति अर्जित करते थे, ऐसे श्रमिकों को 'उच्चतभयगो' कहा जाता था। कुछ श्रमिक कार्य के अनुसार भृत्ति पाते थे, जैसे यात्रा के समय स्वामी के साथ जाने वाले श्रमिक की भृत्ति निश्चित कर ली जाती थी ऐसे श्रमिक को 'जत्ताभयगो'

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र ५/३/९१

२. शुक्रनीति २/३९९

३. मनुस्मृति ७/१२६

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र ५/३/९१

५. शुक्रनीति २/३९५

६. निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ३७१८, ३७१९

कहा जाता था। कुछ श्रमिक, जो ठेके पर काम करते थे, उनको 'कवल-भयगो' कहा जाता था।^१

श्रमिकों को पारिश्रमिक मात्र नकद, मात्र भोजन तथा नकद और भोजन तीन रूपों में दिया जाता था। पिंडनियुक्ति में उल्लेख है कि दास-दासियों या पशुओं से जो कार्य लिया जाता था उसका पारिश्रमिक सोना, चांदी और ताँबा आदि धातुओं में प्रदान किया जाता था।^२ इस प्रकार अनुमानतः पारिश्रमिक उक्त धातु के सिक्कों में दी जाती होगी। नकद वेतन के साथ भोजन देने के उल्लेख भी मिलते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि राजगिरि के नन्दमणिकार ने अपनी पुष्करिणी पर लोक कल्याण हेतु औषधालय, अनाथालय और भोजनालय खोले थे, जहाँ उसने नकद वेतन और भोजन पर कर्मचारी नियुक्त किये थे।^३ विपाकसूत्र से ज्ञात होता है कि धान्नक कसाई ने पशुपालन, उनका वध करने और उनका माँस बाजारों में बेचने हेतु नकद वेतन और भोजन पर सैकड़ों अनुचर नियुक्त किये थे।^४ सकडालपुत्र कुम्हार ने भी बर्तन की अपनी ५०० दुकानों पर नकद वेतन और भोजन देकर कर्मचारी नियुक्त किये थे।^५ बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि वैद्य अपना पारिश्रमिक वस्त्र, भोजन, शयन, आसन और 'केवडिय' नामक सिक्कों में प्राप्त करते थे।^६ अन्न और भोजन के रूप में भी

१. भयगो चउव्विहो—दिवसभयगो जत्ताभयगो कव्वाल भयगो उच्चत्तय भयगो य।.....काले छिण्णो सव्वदिणं घणं पच्छिण्णं ख्वगोहि तुमे मम कम्मं कायव्वं। एवं दिणे-दिणे भवगो घेप्पति।.....इमो जत्ताभयगो = दस जोयणाणि मम सहाएण एगाणि वा गंतव्वं एत्तिएण घणेण, तितो परं ते इच्छा।.....इमो कव्वालभयगो—कव्वालो खित्तिखाणतो उड्डमादी, तस्स कम्मप्पिणिज्जति, दो तिणिण वा हत्था छिन्नं अछिन्नं वा एत्तियं ते घणं दाहामि त्ति।.....इमो उच्चत्त भयगो—तुमे ममं एच्चिरं कालं कम्मं कायव्वं जं जं अहं भणामि, एत्तियं ते घणं दाहामि त्ति।

निशीथचूर्णि, भाग ३/३७१८, गाथा ३७६९/३७२९

२. पिंडनियुक्ति, गाथा ४०५

३. ज्ञाताधर्मकथांग १३/२०-२३

४. विपाकसूत्र ४/१६

५. उपासकदशांग ७/७

६. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १९६८ से १९७०

भृत्ति दी जाती थी। पिंडनियुक्ति में एक कृषक द्वारा अपने श्रमिकों को हल चलाने के बाद उनकी योग्यतानुसार भोजन देने का उल्लेख है।^१ व्यवहारभाष्य के अनुसार एक कुटुम्बी कृषकों की सहायता से जो धान्य उगाता था उसे बाद में कृषकों में विभक्त कर देता था^२ और जो बचता था उसे कोष्ठागार में सुरक्षित रख देता था। बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि गाय, भैंस आदि का पालन करने वाले ग्वाले प्रतिदिन अपनी भृत्ति ले लेते या फिर चौथे दिन पूरा दूध ले लेते थे।^३ पिंडनियुक्ति से ज्ञात होता है कि जिनदास श्रावक का गोपालक आठवें दिन सब गायों का दूध भृत्ति-स्वरूप ले लेता था।^४ मनुस्मृति में १० गायों का पालन करने वाले को एक गाय का दूध भृत्ति स्वरूप देने का निर्देश दिया गया था।^५ बृहत्कल्पभाष्य में माली और पुष्प चुनने वाले को भी खाने पीने की वस्तुओं के रूप में पारिश्रमिक दिये जाने का उल्लेख है।^६ वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि धन्ना सार्थवाह ने अपने दास समुद्रदत्त के कार्य से प्रसन्न होकर उसे वस्त्र-युगल दिया और उसकी नौकरी स्थायी कर दी।^७

जो व्यक्ति श्रमिकों को पर्याप्त भृत्ति नहीं देता था उसे हेय माना जाता था। व्यवहारभाष्य में एक ऐसे अमात्य का उल्लेख है जो राजा की आज्ञा से एक भवन निर्मित करवा रहा था, वह धन के लोभ से श्रमिकों को पूरी भृत्ति नहीं देता था, निष्ठुर वचनों से उनको अपमानित करता था, उनसे अनुचित और कठोर काम करवाता था उनको विश्राम का समय भी नहीं देता था। उन्हें लवण व मसालों से रहित सूखा भोजन भी समय-कुसमय पर ही देता था। इससे दुःखी होकर श्रमिक भवन को अपूर्ण छोड़कर चले गये। जब राजा को यह ज्ञात हुआ तो उसने अमात्य

१. पिंडनियुक्ति गाथा ३८४

२. 'कौटुम्बिकः सकर्षकाणां कारणे समुत्पन्ने वृद्ध्या कालान्तर धान्यं ददाति'

व्यवहारभाष्य, ६/१६३

३. 'एगो गोवो पयोविभागेन गावो रक्षति सो य खारियाणं गावीणं चउत्थ खीरस्स गेण्हति' निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ४५०२

४. पिंडनियुक्ति गाथा ३६९

५. मनुस्मृति ८/२३१

६. बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, गाथा ३६५१

७. संघदासगणि—वसुदेवहिण्डी १/५०

को मंत्रीपद से च्युत कर दिया और उसका सारा धन छीन कर दंडित किया।^१ कौटिल्य ने भी श्रमिकों की भृत्ति काटकर बचत करने वाले राज्याधिकारी के लिये दण्ड का विधान किया है।^२ खेतिहर श्रमिकों को प्रदत्त भृत्ति-दर का जैन ग्रन्थों में कोई वर्णन नहीं मिलता, किन्तु अन्य प्राचीन ग्रन्थों से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य की खेतों में खेतिहर श्रमिक, भूमि की उर्वरता के अनुसार उपज का १/२, १/३, १/४, १/५ भाग भृत्ति-स्वरूप पाते थे।^३ निजी खेतों में काम करने वाले श्रमिक, उपज का १/१० भृत्ति-स्वरूप पाते थे।^४ यूनानी विद्वान् स्ट्रैबो लिखता है कि खेतिहर श्रमिक राज्य की भूमि पर काम करके उपज का १/४ भाग भृत्ति स्वरूप पाते थे।^५

निर्धारित वेतन के अतिरिक्त श्रमिकों को उनकी विशेष सेवा के लिये पुरस्कार दिये जाते थे^६ और उनको पदोन्नत किया जाता था। निशीथ-चूर्णि में ऐसे राजा का वर्णन है जिसने अपने कर्मचारी की सेवा से प्रसन्न होकर उसके वेतन में प्रतिदिन एक स्वर्णमाषक की वृद्धि कर दी थी और वस्त्र दान दिया था।^७ निशीथचूर्णि तथा आवश्यकचूर्णि के अनुसार किसी राजा द्वारा अपने पाँच योद्धाओं के अत्यन्त वीरतापूर्वक युद्ध करके एक अजेय दुर्ग को जीत लेने पर प्रसन्न होकर यह घोषणा की गई कि वे योद्धा नगर से जो चाहे ले लें उसका मूल्य राज्य वहन करेगा।^८

कुछ श्रमिक जिनका सेवाकार्य अस्थायी होता था वे कार्य की खोज में इधर-उधर घूमते रहते थे। बृहत्कल्पभाष्य में “औदारिक” श्रमिकों के

१. व्यवहारभाष्य ८/३१०

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/९/२५

३. वही ३/१३/६९, २/२४/४१

४. वही ३/१३/६९

५. पुरी, बैजनाथ—इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई अर्ली ग्रीक राइटर्स

६. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/२३/४०

७. ‘पति दिवसं सुवर्णमासतो वित्ति कता पहाणं च से वत्थजुयलं दिन्नं’
निशीथचूर्णि, भाग ४, गाथा ६५४१

८. वत्थादिगं वा जणस्स गेण्हति तस्स वेणइयं सव्वं राया पयच्छति जं ते किंचि
असणादिगं’

निशीथचूर्णि, भाग ४, गाथा ६०८०; आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० २१८

सार्थ का उल्लेख है, जो आजीविका की खोज में घूमता रहता था।^१ इससे स्पष्ट होता है कि समाज में निम्नस्तरीय वर्ग आर्थिक दृष्टि से दुर्बल था। उनके पास काम करने के न तो पर्याप्त साधन थे और न ही उन्हें पूर्ण भोजन मिलता था।^२ उन्हें अपनी आजीविका के लिये कड़ा परिश्रम करना पड़ता था। वे सूर्योदय होते ही जंगलों में लकड़ी और पत्ते इकट्ठे करने चले जाते और सूर्यास्त तक घर लौट पाते थे।^३ कुछ हीन कार्य करने वालों की दशा तो दासों से भी बुरी थी, समाज में सवर्णों के लिये वे अस्पृश्य थे।^४ इस श्रेणी में चांडाल आते थे, इन्हें नगरों के बाहर निवास करना पड़ता था।^५ श्रमशक्ति प्रदान करने वाले कर्मकारों का स्तर दासों की अपेक्षा अच्छा था उन्हें अपने काम के अनुसार निश्चित वेतन प्राप्त होता था, वे स्वामी की सम्पत्ति नहीं थे। कुशल श्रमिकों की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी। वे अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिये श्रेणियों में संगठित हो गये थे, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में ऐसी १८ श्रेणियों का वर्णन है।^६ इन श्रेणियों के अपने नियम थे और ये आवश्यकतानुसार राज्य से न्याय की माँग करती थीं।^७ इन श्रेणियों की तुलना आज के श्रमिक संगठनों और “ट्रेड यूनियन्स” से की जा सकती है।

आज की भाँति प्राचीनकाल में भी उत्पादन के लिये सन्तुष्ट श्रम-शक्ति आवश्यक समझी जाती थी। प्रश्नव्याकरण तथा उपासकदशांग से ज्ञात होता है कि श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिये एवं उनके नैतिक उत्थान के लिये उनकी व्यक्तिगत और सामूहिक आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाता था।^८ महावीर ने श्रमिकों के शोषण की भावना को कम करने के लिये आश्रितों के भोजन-पानी का विच्छेद और उनकी क्षमता से अधिक कार्य लेना, श्रावक के प्रथम अनुव्रत

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा ३०६६

२. प्रश्नव्याकरण ३/२०

३. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १०९७

४. व्यवहारभाष्य भाग ४, गाथा ९२

५. वही भाग ४, गाथा ९२

६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३/१०

७. ज्ञाताघर्मकथांग ८/१३०; आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० १८१

८. उपासकदशांग १/३२; प्रश्नव्याकरण १/२७

अहिंसा का अतिचार माना है ।^१ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी श्रमिकों की सुरक्षा हेतु विधान बनाने के प्रसंग हैं जिनके अनुसार स्वामी को निर्धारित वेतन देना पड़ता था और जो ऐसा नहीं करता था वह दण्ड का भागी होता था ।^२ यूनानी विद्वान् स्ट्रैबो ने मेगस्थनीज का उद्धरण देते हुये कहा है कि शिल्प तथा औद्योगिक समितियाँ उद्योग-सम्बन्धी कार्यों की देखभाल करती थीं । ये शिल्पियों और श्रमिकों का पारिश्रमिक तय करतीं, उनके कार्य का निरीक्षण करतीं, कार्य और गुण के अनुरूप उन्हें वेतन दिलवाती थीं ।^३

राजकीय कर्मचारियों को पेंशन देने के भी उदाहरण मिलते हैं । राजा श्रेणिक ने पुत्र-जन्म का संवाद देने वाली दासी के लिये आजीवन भरण-पोषण की व्यवस्था कर सेवा मुक्त कर दिया था ।^४ अगर सेवाकाल में राज्य कर्मचारी की मृत्यु हो जाती तो उसके परिवार की सहायता की जाती और यथासंभव उसके स्थान पर उसके पुत्र को नौकरी देने का प्रयत्न किया जाता ।^५ कौटिल्य ने भी राज्यकार्य करते हुये मरने वाले राज्यकर्मचारी के परिवार को वेतन देने का निर्देश दिया था ।^६

शुक्र के अनुसार जिस सेवक को सेवा करते हुये ४० वर्ष व्यतीत हो जायँ उसे सेवा-मुक्त करके, उसके भरण-पोषण हेतु उसको आधा वेतन देना चाहिये ।^७ वर्तमानकाल में जैसे—कर्मचारी का भविष्य सुरक्षित करने के लिए उसके वेतन से अनिवार्य बचत जमा करने की योजनायें हैं वैसे ही शुक्र के काल में भी कर्मचारियों के भविष्य को सुरक्षित करने का प्रयत्न किया जाता था ।^८

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि श्रमिकों की श्रेणियाँ अपना धन कल्याणकारी कार्यों में भी लगाती थीं । कुमारगुप्त के मन्दसौर अभिलेख

१. उपासकदशांग १/३२
२. कौटिलीय अर्थशास्त्र २/२४/४०
३. पुरी, बंजनाथ—इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई अर्ली ग्रीक राइटर्स, पृ० ६३
४. ज्ञाताधर्मकथांग १/२०
५. बृहत्कल्पभाष्य भाग ३, गाथा ३२६०
६. कौटिलीय अर्थशास्त्र ५/३/९१
७. शुक्रनीति २/४१३
८. वही २/४१७

में उल्लिखित है कि दशपुर की रेशम बुनने वाली श्रेणी ने सूर्य मन्दिर का निर्माण करवाया था।^१ इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि श्रमिकों के संगठन अपनी पूंजी और श्रम का उचित उपयोग करते थे।

३-व्याज

राष्ट्रीय आय का वह अंश जो पूंजी के बदले में स्वामी को दिया जाता है व्याज कहलाता है। निशीथचूर्ण में उसे वृद्धि कहा गया है।^१ उपासकदशांग से ज्ञात होता है कि पूंजी पर व्याज लेने की प्रथा प्रचलित थी। उपासकदशांग में वर्णित, समाज में प्रतिष्ठित, दसों गाथापति अपनी पूंजी व्याज पर देते थे।^२ बड़े-बड़े सार्थवाह भी ऋण देने का कार्य करते थे।^३ सम्पन्न गाथापतियों और सार्थवाहों के अतिरिक्त व्यापारियों के निगम^४, श्रमिकों की श्रेणियाँ भी व्याज पर पूंजी देती थीं।^५ पाणिनि ने पूंजी देने वाले को 'वस्निक' कहा है।^६ प्रश्नव्याकरण से ज्ञात होता है कि ऋण लिखा-पढ़ी करके दिया जाता था, कुछ धोखेबाज लोग झूठे कागज-पत्र भी तैयार करते थे।^७ ऋण साक्षी को उपस्थिति में दिया जाता था। जैन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि कई बार लोग धन प्राप्त करने के लोभ में झूठी गवाही भी देते थे।^८ ऋण प्राप्त करने का अधिकार उसी व्यक्ति को था जिसके पास भवन या भूमि हो या वह ऋणदाता का भलीभाँति परिचित हो।^९

व्याज की दर प्रायः इतनी ऊँची होती थी कि एक बार ऋण लेने

-
१. ए० के० नारायण—प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह २, पृ १२६
 २. निशीथचूर्ण भाग ३, गाथा ४४८८
 ३. उपासकदशांग १/१२, २/४, ३/४, ४/४, ४/४
 ४. ज्ञाताधर्मकथांग २/७
 ५. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा १११०
 ६. नहुपानकालीन नासिक गुहालेख पंक्ति २, ३
 'ए० के० नारायण—प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह २, पृ० ३३
 ७. पाणिनि अष्टाध्यायी ५/१/१५६
 ८. प्रश्नव्याकरण, २/१०
 ९. वही
 १०. सोमदेवसूरि—नोतिवाक्यामृतम् ७/४०

पर उसे लौटाना कठिन हो जाता था ।^१ पिंडनियुक्ति में सौ रुपक ऋण पर ५ रुपक ब्याज लेने का उल्लेख है किन्तु यह ब्याज मासिक था या वार्षिक इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता ।^२ अनुमानतः यह ब्याजदर मासिक ही थी क्योंकि कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी १०० पण पर ५ पण मासिक ब्याज का उल्लेख हुआ है ।^३ व्यवहारभाष्य में वर्णित है कि एक व्यक्ति ने १०० कार्षापण ऋण लिया था वह अपने ऋण-दाता को एक काकिणी प्रतिमास ब्याज देकर और उसके घर काम करके शीघ्र ही ऋण-मुक्त हो गया ।^४

स्मृतियों में जाति के आधार पर ब्याज की विभिन्न दरों का उल्लेख है । मनुस्मृति में ब्राह्मणों से २ प्रतिशत, क्षत्रियों से ३ प्रतिशत, वैश्यों से ४ प्रतिशत और शूद्रों से ५ प्रतिशत, मासिक ब्याज लेने का विवरण है ।^५ कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में १०० पण पर १ $\frac{१}{४}$ पण ब्याज निर्धारित किया है । किन्तु सामान्य व्यापारियों से पाँच पण, वन्य-मार्ग से व्यापार करने वालों से १० पण, समुद्रीमार्ग से व्यापार करने वालों से २० पण लेना भी उचित बताया है ।^६ याज्ञवल्क्यस्मृति में भी गहन वनों में जाने वालों से १० प्रतिशत और समुद्री मार्ग से जाने वाले व्यापारियों से २० प्रतिशत ब्याज लेने का उल्लेख है ।^७ इससे प्रतीत होता है कि ब्याज की दर पूँजी की सुरक्षा पर निर्भर करती थी । समुद्री मार्ग से व्यापार करने पर पूँजी नष्ट होने की आशंका रहती थी । अतएव ब्याज की दर भी ऊँची हो जाती थी ।

कभी-कभी ऋणदाता अपना धन वापस लेने हेतु अत्यन्त कठोरता का व्यवहार करते थे । ऋणग्राही द्वारा असमर्थता व्यक्त करने पर ऋणदाता ऋणी को अपशब्दों से अपमानित करते थे, पैरों और घूसों से प्रहार

-
१. 'अपरिमियवड्ढीए वड्ढंतं बहु जायं' निशीथचूणि भाग ३, गाथा ४४८८
 २. पिंडनियुक्ति गाथा ४७
 ३. 'पच्चपण व्यावहारिकी मासवृद्धि' कौटिलीय अर्थशास्त्र ३/११/२
 ४. व्यवहारभाष्य १०/३७२
 ५. मनुस्मृति ८/१४२
 ६. सपादपणाधर्म्यामासवृद्धिः पणशतस्य पञ्चपणा व्यावहारिकी दशपणा कान्तार-काणाम् विंशतिपणासामुद्रीणाम्—कौटिलीय अर्थशास्त्र ३/११/३६
 ७. याज्ञवल्क्यस्मृति व्यवहाराध्याय सूत्र ३८

करते और उनके घर पर अपमानसूचक गंदी ध्वजा फहरा देते थे।^१ आवश्यकतानुसार राजकीय सहायता से भी अपना धन वापस पाने का प्रयत्न करते थे।^२ विशेष परिस्थितियों में ऋणदाता ऋण का पूरा धन न मिलने पर उसका अर्धांश लेकर ही ऋणी को मुक्त कर देते थे।^३ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि यदि ऋणी ऋण चुकाने में असमर्थ होता तो उसे ऋणदाता की दासता स्वीकार करनी पड़ती और जब तक ऋण चुका नहीं लेता उसे दास बने रहना पड़ता था। निशीथचूर्णि के एक प्रसंग में एक स्त्री ने एक तेली से तेल उधार लिया था और किसी कारणवश उसे लौटा नहीं पाई। उसका ब्याज इतना अधिक हो गया कि उस स्त्री को तेली की दासता स्वीकार करनी पड़ी।^४ मनुस्मृति में भी अपने दिये हुये ऋण को बलपूर्वक ग्रहण करना न्यायोचित माना गया है।^५ बृहत्कल्पभाष्य में वर्णित वणिक्न्याय के अनुसार यदि ऋण लेने वाला स्वदेश में हो तो उसे अनिवार्य रूप से कर्ज चुकाना पड़ता था, परन्तु यदि वह समुद्र-यात्रा द्वारा विदेश गया हो और किसी दुर्घटना-वश उसका सब कुछ चला गया हो और कठिनाई से मात्र अपना जीवन ही बचा पाया हो तो उसे ऋण से मुक्त कर दिया जाता था।^६

सूत्रकृतांग के अनुसार पिता-पितामह अथवा अपने किसी पूर्वज द्वारा लिया गया और वापस न चुकाया जा सका ऋण पैतृक ऋण होता था, जिसे चुकाना पुत्र, पौत्र अथवा उनके उत्तराधिकारी का उत्तरदायित्व होता था।^७ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी ऐसी ही व्यवस्था है कि यदि

१. अणं रिणं पोच्चडं मइलं झंझडिया रिणे अदिज्जते वणिएहि अणेगप्पगारेहि दुव्वयणेहि झडिया झंझडिया लताकसादिएहि वा झडिता

निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ३७०४

२. राजकुलबलेन तं धारणिकं धृत्वा स्वल्पं द्रव्यं बलादपि गृह्णाति ।

बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा २६९१

३. 'अद्धपदत्ते दाणेण तोसिएण धणिणं विसज्जितो'

निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ३७५०

४. निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४४८८

५. मनुस्मृति ८/५०

६. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ६, गाथा ६३०९

७. सूत्रकृतांग १/३/२/२ १८९

ऋण लेने वाला बिना ऋण भरे ही मर जाये तो उसके उत्तराधिकारी को ऋण भरना पड़ता था ।^१ गौतमधर्मसूत्र में भी उत्तराधिकारी को ऋण भरने के लिये कहा गया था ।^२ जैन साहित्य से ज्ञात होता है कि पैतृक ऋण की अधिकता से घबराकर कुछ गृहस्थ, साधु-जीवन अपना लेते थे ।^३

जैन साहित्य में ऋण चुकाने की निर्धारित अवधि का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु ऋण निश्चय ही निर्धारित अवधि के लिये ही दिये जाते होंगे और उसके व्यतीत हो जाने पर ही ऋणदाता अपना धन वापस लेने के लिये उक्त प्रयत्न करते होंगे । पाणिनि के अनुसार ऋण चुकाने की अवधि के आधार पर ऋणों के नाम रख दिये जाते थे यथा मास भर में चुकाये जाने वाला ऋण 'मासिक' और संवत्सर में चुकाये जाना वाला ऋण 'सांवत्सरिक' कहलाता था । इसी प्रकार निर्धारित ऋतुओं में वापस करने की शर्त पर भी ऋण लिया जाता था यथा ग्रीष्म में चुकाया जाने वाला 'ग्रीष्मक', वर्षाऋतु में चुकाया जाने वाला 'कलापक' और निर्धारित मासों यथा अग्रहायण में चुकाया जाने वाला 'आग्रहायणिक' और वसन्त में चुकाया जाने वाला 'वासन्तक' कहलाता था ।^४ इससे प्रतीत होता है कि उत्पादन की आवश्यकतानुसार ऋण दिये जाते थे और कृषि की उपज के तैयार हो जाने पर ऋण वापस चुकाने की व्यवस्था थी ।^५

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में ब्याज पर ऋण देने का कार्य प्रायः समाज के धनी, श्रेष्ठी, गाथापति, सार्थवाह और वणिक करते थे, जिनकी पहुँच राज्य दरबार तक होती थी और वे कभी-कभी अनुचित लाभ उठाकर निर्धन और असहाय व्यक्तियों का शोषण करने लगते थे ।

४—लाभ

प्रबन्धक का भाग अथवा अंश ही लाभ है । पूंजी का ब्याज, भूमि

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र ३।१।३६

२. गौतम धर्मसूत्र २।२।३७

३. सूत्रकृतांग १।२।२।१७९

४. पाणिनि-अष्टाध्यायी ४/३।४९, ४।२।४८

५. वही, ४।२।४८-४९

का किराया, श्रमिक का वेतन और राज्य कर-का भुगतान कर देने पर प्रबन्धक के पास जो धन बचता है उसे लाभ कहा जाता है निशीथचूर्णि से ज्ञात है कि ईसा की छठीं-सातवीं शताब्दी से सार्थवाह, गाथापति और वणिक् अपनी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता के साथ श्रम तथा पूँजी को इस प्रकार संगठित करते थे कि उनको भरपूर लाभ होता था। वे आय और व्यय की समुचित व्यवस्था से लाभ प्राप्त करते थे।^१ व्यापारी सदैव सावधान रहते थे कि व्यापार से उन्हें पर्याप्त लाभ हो और जिस व्यापार में उन्हें लाभ की आशा नहीं होती थी वे उस व्यापार को नहीं करते थे।^२ यह लाभ व्यापारी को कुछ तो अपनी दूरदर्शिता और साहस के कारण और कुछ अनुकूल परिस्थितियों के कारण होता था। लाभांश राज्य की व्यापारिक नीतियों पर भी निर्भर करता था। राज्य सदा सतर्क रहता था कि व्यापारी किसी वस्तु का मनमाना मूल्य निर्धारित कर मिलावट करके या कम माप-तौल करके अधिक लाभ न उठाये।^३ मूल धन से द्विगुणा लाभ लेना मान्य था।^४

प्रश्नव्याकरण के अनुसार अनैतिक या असामाजिक रीति से अर्जित धन चोरी है।^५ अतः उतना ही लाभ लेना चाहिये जिससे किसी का शोषण न हो। प्राचीनकाल में भी कुछ व्यापारी आर्थिक दृष्टि से इतने सम्पन्न हो जाते थे कि राज्य के नियमों और नीतियों को प्रभावित करने की क्षमता रखते थे। ज्ञाताधर्मकथांग में कुछ ऐसे व्यापारियों का वर्णन है जो बहुमूल्य उपहार देकर शुल्क-मुक्त हो गये थे।^६

उपासकदशांग से ज्ञात होता है कि समृद्ध गाथापतियों और श्रेष्ठियों का राजकीय सम्मान होता था। राज्य के व्यापारिक विकास में राजा भी

१. आय-व्यय तुलज्जा लाभा करियं व्व वाणियओ'

निशीथभाष्य गाथा २०६७

२. 'जहा लाभत्थो वणिओ मूलं जेण तुट्ठति तारिसं पण्णं णो किणति जत्थ लाभं पेच्छति तं किणति, वही भाग २ गाथा २५२२, ४९११

३. सोमदेवसूरि—नीतिवाक्यामृतम् ८।१८, १४, ८।२२

४. वही १८।६५

५. प्रश्नव्याकरण ३/३

६. ज्ञाताधर्मकथांग ८/८३

इनसे परामर्श लेते थे और राज्य की विषम परिस्थितियों में इनसे सहायता ली जाती थी।^१ इससे स्पष्ट होता है कि अथाह सम्पत्ति और राजकीय नीतियों के प्रभाव के कारण आय का अधिकांश भाग ऐसे ही व्यापारी प्राप्त करते थे। राष्ट्रीय आय के वितरण में सबसे बड़ा भाग लाभ के रूप में ही जाता था और प्रभावशाली व्यापारी असीम धन के स्वामी बन बैठते थे। **उपासकदशांग** के अनुसार इनके धन की गणना करना संभव नहीं था। अतः उसे बर्तनों से मापा जाता था। स्वनामधन्य धनाढ्य गाथापति महाशतक ने अपरिग्रह व्रत का पालन करते हुये प्रतिदिन दो द्रोण परिमाण सुवर्णमुद्राओं के लेनदेन का नियम ले रखा था।^२

जैन ग्रन्थों में उपलब्ध प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि श्रमणोपासक व्यापारी न्याय और नीतिपूर्वक अर्थोपार्जन कर समाजसुधार तथा उत्थान का कार्य करते थे। **भगवतीसूत्र** में तुंगिया नगरी के श्रावकों के आदर्श जीवन का चित्रण करते हुये कहा गया है कि वे स्वभाव से उदार और दीनों तथा असहायों के सहायक थे।^३ **ज्ञाताधर्मकथांग** में उल्लेख है कि बड़े-बड़े सार्थवाह भी दयालु प्रवृत्ति के होते थे, वे सार्थ प्रस्थान के पूर्व यह घोषणा करते थे कि व्यापारिक उद्देश्य वाले यात्रियों की समस्त सुविधाओं की व्यवस्था सार्थवाह करेगा और यदि किसी व्यापारी का धन घट जायेगा तो उसकी सहायता भी सार्थवाह करेगा।^४ इससे छोटे व्यापारियों को बड़ी सुविधा हो जाती थी, क्योंकि अकेले यात्रा करने के साधन उनके पास नहीं होते थे। उदार सार्थवाहों की सहायता से वे अपने अल्पसाधनों से भी दूर-दूर तक व्यापार करने में समर्थ हो पाते थे।

वितरण का स्वरूप

प्राचीन जैन ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उनके रचनाकाल में आर्थिक स्वतंत्रता थी। व्यक्ति यथेच्छ धन अर्जित कर सकता था। राज्य की ओर से कोई प्रतिबन्ध नहीं था।^५ परिणामतः समाज दो वर्गों

१. उपासकदशांग १/१३; ज्ञाताधर्मकथांग २/१०

२. उपासकदशांग ८/४

३. भगवतीसूत्र २/५/११

४. ज्ञाताधर्मकथांग १५/६

५. उपासकदशांग १/१२; ज्ञाताधर्मकथांग ८/६४, १३/१८

में विभक्त हो गया था। आवश्यकता से अधिक पूँजी वाला धनी वर्ग और अत्यन्त निर्धन वर्ग। इससे समाज में आर्थिक विषमता व्याप्त हो गई थी। धनिकों में नगरश्रेष्ठि, गाथापति और सम्पन्न वर्णिकृ थे। दूसरा शोषित वर्ग था जिसमें भूमिहीन किसान, श्रमिक और दास-दासी थे। उत्पादन में सक्रिय भागीदार होने पर भी इस वर्ग को उचित प्रतिफल नहीं प्राप्त होता था। धनी वर्ग निर्धनों का शोषण कर रहा था, इस प्रकार श्रम की अपेक्षा पूँजी का महत्त्व बढ़ गया था और एक प्रकार से आर्थिक-विषमता व्याप्त हो गई थी। जैसा कि सूत्रकृतांग से ज्ञात होता है कि स्वामियों द्वारा अत्यधिक शोषण करने पर कई बार सेवक विद्रोही हो जाते थे और वे स्वामियों की सम्पत्ति को ही समाप्त कर देते थे।^१ इसी प्रकार ज्ञाताधर्मकथांग से भी ज्ञात होता है कि धन्ना सार्थवाह का दास, स्वामी के कठोर व्यवहार के कारण घर से पलायित हो गया था और चोरी करने लगा। अपने स्वामी से प्रतिशोध लेने के लिए उसने धन्ना का सम्पूर्ण धन लूट कर उसके बेटे का भी अपहरण कर लिया था।^२

आर्थिक विषमता की समस्या के समाधान हेतु ही जैनधर्म के प्रवर्तकों तथा आचार्यों ने 'अहिंसा', 'अस्तेय' तथा 'अपरिग्रह' के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था।^३ उनमें से अहिंसा अणुव्रत में अपने आश्रितों को समय पर भोजन और समुचित वेतन आदि देने का विधान था। इस नियम का उल्लंघन करने पर गृहस्थ को अहिंसा अणुव्रत के अतिक्रमण का दोषी माना जाता था।^४ तृतीय 'अस्तेय अणुव्रत' मानव को धार्मिक जीवन जीने की और अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को न्याय और पुरुषार्थ से प्राप्त करने की प्रेरणा देता था।^५ इसके विपरीत अनैतिक और असामाजिक रीति से अर्जित किया हुआ धन 'स्तेय' माना जाता था। अस्तेय-व्रत धारण करने से सहयोग और समता की भावना में वृद्धि होती थी।

महावीर ने गृहस्थ के लिए आवश्यकता से अधिक धन सम्पत्ति का संग्रह और उस पर आसक्ति को परिग्रह कहा है जो मुक्ति में बाधक है।

१. सूत्रकृतांग २/२२१०

२. ज्ञाताधर्मकथांग १८/१६, ३८

३. उपासकदशांग १/२३

४. उपासकदशांग १/३२, ३३, ३४, ३६;

आवश्यकचूर्ण भाग २, पृ० २८०, २८५, २८६

५. प्रश्नव्याकरण ३/३

अतएव अपनी आवश्यकतानुसार धनसम्पत्ति रखना, उसमें आसक्त न होना अपरिग्रह व्रत है।^१ इस सिद्धान्त से प्रभावित होकर समाज के अनेकानेक धनी व्यक्तियों ने स्वेच्छया अपनी आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति को जनकल्याण के लिये अर्पित कर दिया था यथा उपासकदशांग में आनन्दगाथापति का उल्लेख प्राप्त होता है जिसने अपनी अनन्त इच्छाओं को नियंत्रित करते हुये धन, सम्पत्ति, भोजन-वस्त्र के साथ-साथ अपनी अन्य उपभोग की वस्तुओं को भी सीमित किया था।^२ महावीर की दृष्टि में आवश्यकता से अधिक अर्थ-संग्रह असमानता उत्पन्न करता है क्योंकि एक का संचय दूसरे का अभाव बन जाता है। जो व्यक्ति अपनी अपरिमित सामग्री को जरूरतमन्द लोगों में नहीं वितरित करता उनको मुक्ति नहीं प्राप्त होती।^३ इस प्रकार महावीर ने अल्पपरिग्रही समाज की नींव डाली। नीतिवाक्यामृतम् में भी कहा गया है कि जो शरणागतों के लिये अपने धन का उपयोग नहीं करता उसके धन का कुछ लाभ नहीं है।^४

इस प्रकार सम्पत्तियों के अपरिग्रह तथा दान की भावना से विपत्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी और समाज में आर्थिक समानता के आदर्श की स्थापना होती थी।



१. उपासकदशांग १/३६; प्रश्नव्याकरण ५/१

२. वही १/२९

३. 'असंविभागी णहु तस्स मोक्खो'—दशवैकालिक ९/२३

४. 'न खलु कस्यापि मा भूदर्थो यत्रासंविभागः शरणागतानाम्'

सोमदेवसूरि—नीतिवाक्यामृतम् १/१६

सप्तम अध्याय

राजस्व-व्यवस्था

राज्य-संचालन में कोश का बड़ा महत्त्व था क्योंकि इसी से राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक-प्रणाली का नियंत्रण होता था। बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार कोश के नष्ट होने पर राज्य भी नष्ट हो जाता है।^१ आवश्यक-चूर्णि में भी उल्लेख है कि जिस राजा का कोश क्षीण हो जाता है उसका राज्य नष्ट हो जाता है।^२ निशीथचूर्णि में भी कहा गया है कि जो राजा अर्थोत्पत्ति के साधनों का संरक्षण नहीं करता, धनाभाव के कारण उसका कोश क्षीण हो जाता है और वह राजा नष्ट हो जाता है।^३ सोमदेवसूरि ने तो कोश को राजाओं के प्राण की संज्ञा दी है। इनके अनुसार प्रजा का धनधान्य ही राजा का कोश है। यह दुःख-सुख में राज्य की रक्षा करता है। अतः राजा का यह कर्तव्य है कि वह न्यायोचित साधनों से भोग करते हुये कोश की वृद्धि करे।^४ कौटिल्य ने कोश को राज्य का आधार माना है।^५ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि मौर्यकाल से ही कोश का महत्त्व समझा जा चुका था। इसके अनुसार राजकोश ३ भागों में विभाजित था—कोष्ठागार—यह एक प्रकार का कोठार था जहाँ सब प्रकार के धान्यों को एकत्र किया जाता था, भाण्डागार—इसमें भाण्ड, वस्त्र आदि एकत्र किये जाते थे और कोशागार—जिसमें सोना, चाँदी और हीरों का संग्रह किया जाता था।^६

कर-निर्धारण सिद्धान्त

प्रजापालन हेतु सम्पन्न कोश और सम्पन्न कोश हेतु प्रजा पर कर लगा कर धन एकत्र करना आवश्यक था। एडम स्मिथ ने भी राज्य के

१. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, गाथा ९४०

२. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० २००

३. निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४७९८, ४८०१

४. कोशो ही भूपतिनां जीवितं न प्राणः ।

कोशं वर्धयन्नुत्पन्नमर्थमुपयुज्यते, । सोमदेवसूरि-नीतिवाक्यामृतम् २१/३

५. कोशपूर्वाः सर्वारम्भाः—कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/४/२६

६. 'कोसो जहिं रयणादियं दव्वं' निशीथचूर्णि, भाग १ गाथा १२९,

लिये कर की आवश्यकता को देखते हुये कर-निर्धारण में समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है अर्थात् राज्य की प्रजा को अपने सामर्थ्य के अनुपात में कर देना चाहिये।^१ प्राचीन जैन और हिन्दू-ग्रन्थों में आये संदर्भों से स्पष्ट होता है कि कर लगाते समय कर देने वाले की आर्थिक क्षमता का ध्यान रखा जाता था। जैन आगम ग्रंथ मुख्यतः दार्शनिक ग्रंथ होने के कारण कर-निर्धारण के बारे में कुछ उल्लेख नहीं करते। **विपाक-सूत्र** में प्रजा को कष्ट देकर अत्यधिक धन-संग्रह करने वाले राजा को पापी कहा गया है।^२ जिनसेन के **आदिपुराण** में उल्लेख है कि जिस प्रकार दूध देने वाली गाय को बिना पीड़ा पहुँचाये दूध ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार राजा द्वारा भी प्रजा को बिना कष्ट दिये कर-ग्रहण करना चाहिये।^३ **नीतिवाक्यामृतम्** के अनुसार भी प्रजा को पीड़ित करने वाले राजा का कोश रिक्त हो जाता है और राज्य की महान क्षति होती है क्योंकि भय के कारण या तो लोग व्यापार ही बन्द कर देते हैं या फिर छल-कपट का आश्रय लेते हैं।^४ सोमदेव के अनुसार वृक्ष का मूल-च्छेदन करने वाला एक ही बार फल प्राप्त कर सकता है अर्थात् प्रजा को कष्ट देने वाला राजा एक ही बार धन प्राप्त कर सकता है।^५ **मनुस्मृति** में भी स्पष्ट संकेत है कि राजा, प्रजा से उतनी ही मात्रा में कर ले जिससे राज्य की शासन-व्यवस्था विधिवत् संचालित हो सके और प्रजा का मूल-उच्छेदन भी न होने पाये।^६ **शुक्रनीति** में राजा को माली की भाँति कर ग्रहण करने का निर्देश देते हुये कहा गया है कि जिस प्रकार माली लता को तोड़े बिना पुष्प चुन लेता है उसी प्रकार राजा को प्रजा को कष्ट दिये बिना कर ग्रहण करना चाहिये।^७

आपत्तिकाल में रिक्त कोश की पूर्ति हेतु सोमदेवसूरि ने राजा को ब्राह्मणों और वणिकों का ऐसा धन अधिग्रहीत कर लेने का परामर्श दिया

१. स्मिथ एडम, दि वेल्थ आफ नेशन्स, भाग २ पृ० ३१०
२. विपाकसूत्र १/२८
३. पयस्विन्या यथा क्षीरं दोहेणोपजीव्यते । प्रजाप्येवं धनं धनं दोहया नीति—
पीडाकरैः । आदिपुराण १६/२५४.
४. नीतिवाक्यामृतम्, ८/११
५. 'तरुच्छेदेन फलोन्मोगः सकृदेव' वहो, १६/२५
६. मनुस्मृति, ७/१११
७. 'मालाकार इव ग्राह्यो भागो'—शुक्रनीति, ४/११०, २/१७३

१६६ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

है जो धर्मानुष्ठान, यज्ञ और कुटुम्ब-संरक्षण में उपयोगी न हो। इसके अतिरिक्त उन्होंने धनिकों, धर्माधिकारियों, मंत्रियों, पुरोहितों और अधीनस्थ राजाओं से धन लेने की सलाह दी है।^१ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी उल्लेख है कि कोश के क्षीण हो जाने पर या अकस्मात् अर्थसंकट आ जाने पर राजा को कोश-वृद्धि के लिए जनपदों से अन्न का १/३ या १/४ भाग राज्य-कर के रूप में ग्रहण करना चाहिए।^२

निशीथचूर्णि में राजा को प्रदान किये जाने वाले द्रव्य को “खोड़” कहा गया है।^३ प्रश्नव्याकरण में कर-ग्रहण अधिकारी को “खंडरक्खा” कहा गया है।^४ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है “गोमिया” और “सुकिया” नामक अधिकारी राजा के लिये कर ग्रहण करते थे।^५ गोमिया गाँव से और रट्टिय (राष्ट्रकूट) राष्ट्र से कर ग्रहण करते थे।^६ कर नकद और वस्तु दोनों रूपों में ग्रहण किया जाता था।^७ व्यवहारभाष्य के अनुसार कर के रूप में धान्य, घी, फल, भाण्ड, वस्त्र आदि जो प्राप्त होते थे उन्हें गाड़ियों से कोष्ठागारों में पहुँचाया जाता था।^८

राज्य की आय के स्रोत

राजकीय आय के स्रोतों पर ही राज्य की समृद्धि और भावी योजनायें निर्भर करती हैं। मुख्यतः धार्मिक दृष्टि होने के कारण राज्य की आय-वृद्धि के लिये तत्कालीन राजाओं द्वारा लगाये गये कर और उनकी दर के सम्बन्ध में जैन-ग्रन्थों में विशेष उल्लेख नहीं है। यत्र-तत्र आये प्रसंगों से ही कर-व्यवस्था का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र, स्मृतियाँ और पुरालेख अवश्य ही प्राचीन कर व्यवस्था पर कुछ प्रकाश डालते हैं।

१. सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृतम् २१/१४

२. जनपदं महान्तमल्पप्रमाणं वा देवमातृकं प्रभृतधान्यं धान्यस्यांशं तृतीयं चतुर्थं वा याचेत्, कौटिलीय अर्थशास्त्र, ५/२/१०

३. ‘खोड़ं णाम जं रायकुलस्स हिरण्णादि दव्वं दायव्वं’

निशीथचूर्णि, भाग ४, गाथा ६२९५

४. प्रश्नव्याकरण, २/३

५. निशीथचूर्णि, भाग ४, गाथा ६५२१

६. वही, भाग २, गाथा ४८९

७. वही, भाग ४, गाथा ६२९६, ६४०८

८. व्यवहारभाष्य, ६/२२३

ग्रामकर—बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णियों में विवरण है कि ग्रामों में १८ प्रकार के कर लगते हैं।^१ डाँ० जगदीशचन्द्र जैन ने अपनी पुस्तक 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज' में १८ प्रकार के करों के नाम दिये हैं :—^२

- | | |
|----------------|-------------------------------------|
| (१) गोकर | (गाय पर लगने वाला कर), |
| (२) महिषकर | (भैंस पर लगने वाला कर), |
| (३) उष्ट्रकर | (ऊँट पर लगने वाला कर), |
| (४) पशुकर | (पशुओं पर लगने वाला कर), |
| (५) अजकर | (बकरे पर लगने वाला कर), |
| (६) तृणकर | (घास के पत्तों पर लगने वाला कर), |
| (७) भुसकर | (धान्य के भूसे पर लगने वाला कर) |
| (८) पलालकर | (चावल के भूसे पर लगने वाला कर) |
| (९) अङ्गारकर | (कोयले पर लगने वाला कर) |
| (१०) काष्ठकर | (लकड़ी पर लगने वाला कर), |
| (११) लांगूलकर | (पूँछ पर लगने वाला कर), |
| (१२) देहलीकर | (घरों पर लगने वाला कर), |
| (१३) जंघाकर | (चरागाह कर), |
| (१४) बलिवर्दकर | (बैल पर लगने वाला कर), |
| (१५) घटकर | (मिट्टी के बर्तन पर लगने वाला कर), |
| (१६) कर्मकर | (श्रमिकों द्वारा दी गई बेगार), |
| (१७) बुल्लकर | (सामूहिक भोज पर लगने वाला कर) और |
| (१८) औतितकर | (विज्ञानकला के व्यापार पर कर) । |

ये सभी कर कृषि और पशु सम्बन्धी थे। आवश्यकचूर्णि में भी क्षेत्र-कर और पशु-कर का उल्लेख हुआ है।^१ इन करों के उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि कृषक आय का कोई भी स्रोत कर मुक्त नहीं था। कौटिलीय अर्थशास्त्र में ग्रामों से प्राप्त इस प्रकार की आय को 'पिण्डकर'

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १०८८; उत्तराध्ययनचूर्णि, २/९७;

निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४१२८

२. जैन, जगदीश चन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ११२

१. आवश्यकचूर्णि, भाग २, पृ० ४

कहा गया है ।^१ जैनग्रंथों में नगर को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि जहाँ पर कर नहीं लगते वह नगर है ।^२ पर अन्य संदर्भों से नगरों के कर-मुक्त होने को पुष्टि नहीं होती है, क्योंकि नगरों से वाणिज्य-व्यापार सम्बन्धी कर लिये जाने का उल्लेख है ।^३ कौटिलीय अर्थशास्त्र और स्मृतियों में कई प्रकार के करों का उल्लेख है ।^४ इस कारण जैन ग्रंथों का यह कथन कि नगर ऐसे स्थान हैं जहाँ कर न लगते हों, भिन्न प्रसंग में रहा होगा । उनका तात्पर्य उन १८ कृषि सम्बन्धी करों से रहा होगा जिनका प्रचलन नगरों में नहीं था ।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में दुर्ग, राष्ट्र, खनिज, सेतु, वन, वणिक्पथ, शुल्क और दण्ड राजकीय आय के साधन कहे गये हैं ।^५ शुक्र ने शुल्क, दण्ड, खानकर, मातृक-उपायन को राजा की आय का साधन बताया है ।^६ जैन ग्रन्थों में राजकीय आय का विस्तृत उल्लेख तो नहीं मिलता है, पर बृहत्कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, निशीथचूर्णि आदि ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि भूमिकर, वाणिज्यशुल्क, वाणिज्यपथ, दण्ड, उपहार और विजित राजाओं से प्राप्त धन राजकीय आय के साधन थे ।

भूमिकर-आय का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत भूमिकर था, जो भूमि की उर्वरता पर निर्भर करता था । बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि इक्ष्वाकुवंश के राजा १/१० और वृष्णि वंश के राजा १/६ भाग कर ग्रहण करते थे ।^७ व्यवहारभाष्य में भी उपज का १/४, १/६, १/१० राज-वंश कहा गया है ।^८ कौटिल्य ने उपज का १/४ राज्यकर कहा है ।^९

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र; २/५/३३.

२. 'नत्येत्थ करो नगरं' बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १०८९;

उत्तराध्ययनचूर्णि २/१०७; निशीथचूर्णि ३/४१२८.

३. उत्तराध्ययन १४/३७; पिडनियुक्ति गाथा ८७;

निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ६५२१.

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/६/२४; शुक्रनीति २/२३५.

५. 'समाहर्ता दुर्ग राष्ट्रं खनि सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत, शुल्कं दण्डः पीतवं नागरिको' कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/६/२४.

६. शुक्रनीति, २/२३५.

७. इक्ष्वागादसभागं, सव्वे वि य वणिहणो उ छवभागं-बृहत्कल्पभाष्य ५/५२५७.

८. व्यवहारभाष्य, १/१४.

९. 'धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा' ॥ मनुस्मृति ७/१३०.

मनुस्मृति में कहा गया है कि भूमि की उपज के अनुसार राजा को १/६, १/४, १/१२ भूमिकर लेना चाहिये ।^१

गौतमधर्मसूत्र में कहा गया है कि कृषक को उपज के अनुसार १/६, १/४, १/१० कर के रूप में देना चाहिये ।^२ रघुवंश में कहा गया है कि फसल कटने और कृषकों के धान्य उठा लेने के पश्चात् अन्न कणों को जो ऋषि अपने निर्वाह के लिये चुनते थे उसका भी १/६ भाग वे राजा को देते थे ।^३ उपज का बँटवारा 'द्रोणमापक' नामक राजस्व अधिकारी करता था वह उपज का १/६ भाग राज्यकर ले लेता था ।^४ ऐसा प्रतीत होता है कि भूमिकर उपज का राज्यांश था, जिसे 'भाग' कहा जाता था और जो सामान्य उपज का १/६ होता था । रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में उत्कीर्ण है कि राज्यकोश बलि, शुल्क तथा भाग से भर गया था ।^५ भूमि के क्रय-विक्रय पर भी राज्य १/६ कर ग्रहण करता था । ४४९ ई० के पहाड़पुर ताम्रलेख के अनुसार नाथशर्मा ब्राह्मण और उसकी पत्नी ने ३ दीनार जमा करके १-१/२ कुल्यावाय भूमि खरीदी और उस प्रांत के मुखिया को १/६ भाग कर के रूप में दिया ।^६ प्रजा से कर के रूप में प्राप्त अन्न को राष्ट्रीय कोष्ठागार में संग्रहीत किया जाता था ।^७

भूमि से प्राप्त गुप्तनिधि राजकीय संपत्ति समझी जाती थी । निशीथ-चूर्णि में एक ऐसे वणिक् का उल्लेख है जिसको गुप्तनिधि प्राप्त हुई थी पर जब राजा को इसका पता चला तो उसने वणिक् की सम्पूर्ण निधि जब्त कर ली ।^८ इसी प्रकार एक अन्य व्यक्ति को भूमिस्थ दीनारें प्राप्त हुई

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र ५/२/९०

२. राज्ञे वलिदानं कर्षकैर्दशमष्टं षष्ठ्य, गौतमधर्मसूत्र, २/१/२४

३. कालिदास रघुवंश ४/८

४. खेर, एन० एन०-एग्रेरियन एण्ड फिजिकल इकोनोमी इन मौर्या एण्ड पोस्ट मौर्या एज, पृ० २५२

५. रुद्रदामन का जूनागढ़ शिला अभिलेख, नारायण, ए० के० : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, द्वितीय भाग; पृ० ४३

६. 'धर्मषड्भागप्याय' उपाध्याय, वामुदेव :

प्राचीन भारतीय अभिलेख, पृ० ३५

७. ओघनियुक्ति, पृ० २३

८. 'एक्केणं वणिणं णिही उक्खणिओ, तं अण्णेहि णाउं रण्णो णिवेइयं, वणिओ दांडयो णिही य से हडो' निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ६५२२.

जिसे राजा द्वारा अधिग्रहीत करने का उल्लेख है।^१ कौटिल्य का कहना है कि यदि किसी व्यक्ति को भूमिस्थ निधि प्राप्त हो और राजा को इसकी सूचना दे दे तो राजा का यह कर्तव्य है कि उसे प्राप्त निधि का १/६ पुरस्कार के रूप में प्रदान करे और शेष राज्य-सम्पत्ति के रूप में रखे।^२ मनुस्मृति के अनुसार भूमि से प्राप्त आधी निधि राजा को स्वयं रख लेनी चाहिये और आधी ब्राह्मणों को दान कर देनी चाहिये।^३ गौतम धर्मसूत्र के अनुसार भी भूमि में भूमिस्थनिधि पर राज्य का अधिकार होता है किन्तु यदि वह ब्राह्मण को प्राप्त हो तो उस पर उसका अधिकार होता है और यदि अब्राह्मण को प्राप्त हो तो वह राजा को सूचित करके १/६ धनांश पुरस्कार स्वरूप ग्रहण कर सकता है।^४ कौटिलीय अर्थशास्त्र में खनिज पदार्थों पर भी राज्य का अधिकार बताया गया है।^५

वाणिज्य-कर—व्यापारियों द्वारा राज्य को प्रदान किये जाने वाले कर को शुल्क कहा जाता था। निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि शुल्क ग्रहण करने वाले अधिकारी को 'सुकिया' और शुल्क ग्रहण किये जाने वाले स्थान को 'सुवंवद्वणे' कहा जाता था।^६ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी शुल्क ग्रहण करने वाले अधिकारी को 'शुल्काध्यक्ष' और शुल्क ग्रहण करने वाले स्थान को 'शुल्कशाला' कहा गया है।^७ मौर्यकाल से ही व्यापारिक पथों पर शुल्कशालायें बना कर शुल्क ग्रहण करने की समुचित व्यवस्था थी।^८ कर ग्रहण करते समय राज्य और व्यापारी दोनों की सुविधाओं का ध्यान रखा जाता था। बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि वाणिज्य-कर,

१. निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४३१६

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र, ४/१/७६

३. मनुस्मृति, ४/३९

४. गौतमधर्मसूत्र, २/१/४३

५. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/६/२४

६. 'तस्स य गच्छतो सुंकठाणे सुंकिओ उवट्ठितो—'सुं कं देहि', निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ६५१९

७. 'शुल्काध्यक्षः शुल्कशालाश्वजं च प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वा महाद्वाराभ्यासे निवेशयेत्', कौटिलीय अर्थशास्त्र २/२१/३९

८. वही.

वस्तु के क्रय-विक्रय की दर, मार्ग-व्यय, यान, वाहनों का व्यय और व्यापारी के भरण-पोषण हेतु पर्याप्त धन को छोड़कर लगाया जाता था।^१ मनुस्मृति में उल्लिखित है कि राजा वस्तुओं के क्रय-विक्रय, मार्गव्यय आदि को देखकर व्यापारी पर कर लगाये।^२ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि पण्य वस्तुओं पर मूल्य का १/२० चुंगी के रूप में लिया जाता था, एक व्यापारी के पास बर्तनों से भरी बीस गाड़िया थीं, शुल्काधिकारी ने उससे बर्तनों की एक गाड़ी चुंगी (शुल्क) के रूप में ले ली।^३ कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार तौलकर बिकने वाली वस्तुओं पर १/१०, गिनकर बेची जाने वाली वस्तुओं पर १/११ और नाप कर बेची जाने वाली वस्तुओं पर १/१६ शुल्क के रूप में ग्रहण किया जाता था।^४ मनुस्मृति में व्यापारियों से १/२० कर ग्रहण करने का उल्लेख है।^५ गौतमधर्मसूत्र में भी विक्रय की जाने वाली वस्तुओं पर १/२० राजकीय कर माना गया है।^६ याज्ञवल्क्यस्मृति में भी वस्तुओं पर १/२० शुल्क स्वीकृत किया गया है।^७ ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि कभी-कभी राजा प्रसन्न होकर व्यापारियों को वाणिज्यकरों से मुक्त भी कर देते थे। चम्पा नगरी के पोतवणिक् व्यापार के लिये मिथिला गये थे, उन्होंने राजा को बहुमूल्य भेंट देकर प्रसन्न कर लिया था।

१. 'सुंकादीपरिसुद्धे, सइलाभे कुणइ वाणिओ चिट्ठ'

बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा ९५२

२. 'क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् । योगक्षेमं च संप्रेष्य वणिजो

दापयेत्करान्', मनुस्मृति, ७/१२७

३. सुंकितो भण्णति-वीसतिभाओ, ताहे तेण वणिण्ण य सुंकिण्ण य परिच्छित्ता,
मा ओरुहणपच्चाहणंतेसु वक्खेवो भविस्सति त्ति काउं एक्का भंडी सुंके
दिण्णा ।
—निशीथचूर्णि, भाग ४ गाथा ६५२१

४. षोडशभागो मानव्याजी, विंशतिभागस्य तुलामानम्, । गण्यपण्यानामेकादशभागः

—कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।१६।३६

५. 'शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः । कुर्यरर्थं यथापण्यं ततो विशं नृणो
हरेत् ।'
—मनुस्मृति, ८।३९८

६. विंशतिभागः शुल्कः पण्ये

—गौतमधर्मसूत्र २।१।२६

७. याज्ञवल्क्यस्मृति, २।२६९

और राजा ने उन्हें व्यापार की अनुमति दी तथा पण्यवस्तुओं को शुल्क मुक्त कर दिया ।^१

वर्तनीकर—आवागमन की सुविधा हेतु राज्य की ओर से सड़कों, घाटों और नारों की व्यवस्था की जाती थी जिसके लिये राज्य व्यापारियों और यात्रियों से कर लेता था । बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि मार्गों पर 'वर्तनी' कर लिया जाता था ।^२ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी सीमा-रक्षक और अन्तपाल द्वारा 'वर्तनी' कर लेने का उल्लेख है ।^३ बृहत्कल्पभाष्य में वर्तनी कर किस दर से लिया जाता था इसका उल्लेख नहीं है जबकि कौटिलीय अर्थशास्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि बिक्री का माल ढोने वाली गाड़ी से पण; घोड़े, खच्चर, गधे आदि से माल ढोने वाले से १/२ पण, बकरी और क्षुद्र पशुओं का १/४ पण और कंधे पर माल ढोने वाले यात्री से १ माष 'वर्तनी' कर किया जाना चाहिये ।^४ जैनग्रन्थों में वर्णन है कि नदी आदि पार करने के लिये भी शुल्क देना पड़ता था जिसे 'तरदेय' या 'तरपण' कहा जाता था । कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी नौकाओं और घाटों से प्राप्त होने वाले "तरदेय" का उल्लेख है ।^५ मनुस्मृति के अनुसार नौका का किराया नदी के वेग, स्थिरता, अनुकूल, प्रतिकूल प्रवाह, समय, दूरी आदि देखकर तय किया जाता था ।^६ कौटिल्य ने नौका के भाड़े की दर का भी उल्लेख किया है—भेड़, बकरी आदि छोटे पशुओं तथा हाथ में ग्रहण करने योग्य भार लिये हुए मनुष्य से १ माषक, गाय, घोड़े तथा सिर पर बोझ रखे हुये मनुष्य से २ माषक, ऊँट और भैंसे से ४ माषक, शकट अथवा भारी गाड़ी से ७ माषक, व्यापारिक सामग्री के एक

१. कुंभार राया ते अरहन्तगपमेवले नावावणिगये विडले यत्थगंधजाव उम्मुक्कं विरइ ।
ज्ञाताघमंकथांग, ४।४३.

२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग १, गाथा ७८९.

३. 'अन्तपालः सपादपणिकां वर्तनीगृह्णीयात्पण्य वाहनस्य, पणिकामेक-
खुरस्यपशूनामर्धपणिकां क्षुद्रपशूनाम् पादिकामं सभारस्य माषिकान्',
कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/१७/३४.

४. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ५, गाथा ५६३०; आवश्यकचूर्णि भाग १, पृ० २९८;
'तेरणे चं मग्गेज्जा' निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४२२०

५. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।१७।३४

६. मनुस्मृति, ४।४०७

“भार” का भाड़ा चौथाई पण था। ये दरें छोटी नदियों के लिये थीं। बड़ी नदियों को पार करने की दरें इसकी लगभग दोगुनी थीं। ब्राह्मण, संन्यासी, बालक, वृद्ध, रोगी, हरकारा, गर्भिणी स्त्री, नौकाध्यक्ष को मुद्रा दिखाकर निःशुल्क नदी पार कर सकते थे।^१ बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि एक राज्य से दूसरे राज्य में जाते हुये व्यापारियों को और यात्रियों को निर्धारित कर देकर पार-पत्र लेना आवश्यक था।^२ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी राज्य-सीमा पार करने के लिये १ माषक कर देकर पार-पत्र प्राप्त करने का उल्लेख है।^३

निःस्वामिक धन—जिस संपत्ति के स्वामी का कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था उसकी सम्पत्ति का राज्य अधिग्रहण कर लेता था। उत्तराध्ययन से ज्ञात होता है कि भृगुपुरोहित ने जब पत्नी और पुत्रों के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली तब राजा ने उसकी विपुल संपत्ति राजकोश में जमा करने का आदेश दे दिया।^४ जातककथाओं में भी पुरोहित के अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ दीक्षित हो जाने पर राज्य द्वारा उसकी सम्पत्ति के अधिग्रहण करने का उल्लेख है।^५ व्यवहारभाष्य के एक प्रसंग के अनुसार राजा ने एक निःसन्तान वणिक् की मृत्यु हो जाने पर भी उसकी गर्भवती विधवा पत्नी के हित में उसकी संपत्ति अधिकृत करने की अनुमति नहीं दी। ताकि मृतवणिक् की पत्नी का पुत्र उत्पन्न होने पर स्वतः ही उस शिशु को सम्पत्ति का अधिकार मिल सके।^६ कौटिलीय अर्थशास्त्र में इस प्रकार के धन को अपुत्रक धन कहा गया है।^७

१. क्षुद्रपशुमनुष्यश्चसभारो माषकं दद्यात्, शिरोभारः कायभारो गवाश्वं च द्वौ, उष्ट्रमहिषं चतुरः पञ्चलघुयानम्, सप्तशकटं पण्यभारः पादम्’

कौटिलीय अर्थशास्त्र २।२४।४३

२. रायमातिणो य एते मुद्दापट्टयदूतपुरिसं वा मग्निज्जंति

निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ३३८६

३. मुद्राध्यक्षो मुद्रा माषकेण दद्यात्, कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/३४/५२

४. उत्तराध्ययन १४/३७

५. हत्थिपाल जातक, आनन्द कौसल्यायन, जातककथा ५/७४.

६. व्यवहारभाष्य, ७/४१८

७. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।६।२४

गृहकर—नगरों तथा ग्रामों में प्रत्येक गृह से गृहकर लिया जाता था। पिंडनियुक्ति से ज्ञात होता है कि प्रत्येक गृह से दो द्रम गृहकर लिया जाता था।^१ अनुमानतः बड़े आवासगृहों और भवनों पर अधिक कर तथा छोटे गृहों पर उससे कम कर निर्धारित थे और उनसे भी छोटे आवासगृह कर-मुक्त रहे होंगे क्योंकि **बृहत्कल्पभाष्य** में उल्लेख है कि राजगिरि के समृद्ध व्यक्ति ने एक भव्य भवन निर्मित कराया था लेकिन बाद में उसके निर्धन हो जाने पर उसके पुत्रों के पास इतना भी धन नहीं था कि वे उसका कर दे सकें। विवशतः उन्होंने वह भवन श्रमणों के निवास हेतु दान दे दिया और स्वयं उसके पास झोपड़ी निर्मित कर रहने लगे।^२

उपहार और भेंट—उपहार और भेंट में प्राप्त धन भी राज्य की आय का स्रोत होता था। राजा के राज्याभिषेक, पुत्रोत्पत्ति तथा विशेष उत्सवों के अवसर पर प्रजा तथा अधीनस्थ सामन्त राजा को भेंट देते थे।^३ **ज्ञाताधर्मकथांग** से ज्ञात होता है कि थावच्चा नामक सार्थवाही अपने पुत्र के दीक्षोत्सव की अनुमति लेने उपहार सहित राजा के पास गई थी। दूसरे देश के व्यापारी भी व्यापार आरम्भ करने से पूर्व राजा को भेंट आदि देकर प्रसन्न करते थे। राजगिरि के नंदमणिकार ने राजगिरि में पुष्करिणी निर्मित करने की अनुमति हेतु राजा श्रेणिक को भेंट और उपहार दिये थे।^४ **कौटिलीय अर्थशास्त्र** में उपहार और भेंट स्वरूप प्राप्त धन को 'बलि' और 'उत्संग' कहा गया है।^५

विजित राजाओं से प्राप्त धन—युद्ध में पराजित राजाओं के धन से भी राजकोष में वृद्धि होती थी। **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति** से ज्ञात होता है कि भरत चक्रवर्ती को यवन तथा अरब आदि पराजित विदेशी और देशी राजाओं ने हार, मुकुट, कुण्डल आदि आभूषण और रत्न भेंट किये थे।^६ **पउमचरियं** में उल्लेख है कि म्लेच्छ शासक से पराजित और बन्दी राजा की पुत्री राजकुमारी कल्याणमालिनी, पिता के सिंहासन और राज्य की

१. पिंडनियुक्ति गाथा, ४७

२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४, गाथा ४७७०

३. ज्ञाताधर्मकथांग १/८१, महत्वं महद्घं महरिहं रारिहं पाहुडं उवणोइ.

४. वही, ५/२०, ८/८१ और १३/५

५. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/१५/३३

६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, २/१३, ३/१८

सुरक्षा के बदले म्लेच्छ शासक को निश्चित द्रव्य कर के रूप में भेजती थी।^१ आवश्यकचूर्ण के अनुसार निश्चित द्रव्य न दे पाने के कारण क्रुद्ध राजा ने अपने सामन्त पर आक्रमण कर दिया था।^२ कलिङ्गाधिपति खारवेल ने पराजित राजाओं से मणि, रत्न प्राप्त किये थे।^३ गुप्तसम्राट समुद्रगुप्त ने तटवर्ती राज्यों को जीतकर उन्हें वहीं के राजाओं को लौटा दिया था। इस कृपा के बदले उसके अधीनस्थ राजा उसे कर तथा उपहार देते थे।^४

अर्थ-दण्ड—दण्ड से प्राप्त धन भी राजकोश की वृद्धि का एक साधन था। राज्य के नियमों का उल्लंघन करने पर विभिन्न दण्डों में एक अर्थ-दण्ड भी था। अर्थदण्ड का आधार अपराधी के अपराध की गम्भीरता और लघुता होती थी। व्यवहारभाष्य से ज्ञात होता है कि किसी व्यक्ति को प्रहार करने या उसे गिराकर घायल करने वाले को १३½ रूपक दण्ड स्वरूप देना पड़ता था।^५ ज्ञाताधर्मकथांग में धन्ना नामक सार्थवाह की कथा वर्णित है जिसे राज्य कर न देने के अपराध में राज्यकर्मचारियों ने कारागार में बंद कर दिया। बाद में उसके सम्बन्धियों और मित्रों ने बहुमूल्य रत्न देकर उसे कारागार से मुक्त करवाया था।^६ मेघकुमार के जन्म के अवसर पर १० दिनों के लिये 'दण्डकर' बन्द कर दिये गये थे।^७ इसी प्रकार भगवतीसूत्र से भी ज्ञात होता है कि राजा बल ने पुत्र-जन्म पर कर माफ कर दिये थे।^८ नीतिवाक्यामृतम् में स्पष्ट कहा गया है कि राजा का अपनी प्रजा से दण्ड स्वरूप धन प्राप्त करने का उद्देश्य मात्र धन-संग्रह नहीं अपितु प्रजा की रक्षा होता है।^९

१. विमलसूरि पउमचरियं, ३४/३५

२. आवश्यकचूर्ण, भाग २, पृ० १९०

३. खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख पंक्ति १३; नारायण, ए० के० : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग २, पृ० १५

४. समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भलेख, पंक्ति २२; वही, पृ० १००.

५. 'स्मके पंतकं दंडः उत्कृष्टे तु कलहे प्रवृत्ते अर्द्धत्रयोदश रूपको दंडः', व्यवहारभाष्यपीठिका १/६

६. ज्ञाताधर्मकथांग २/५८

७. वही, १/७८.

८. भगवती सूत्र, ११/११/४२

९. सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृतम् ९/३

वेस्टि (बेगार)—जो लोग कर देने की स्थिति में नहीं होते थे उन्हें राजा के लिये बेगार करनी पड़ती थी। **उत्तराध्ययन** में उल्लेख है कि श्रमिक राजाज्ञा से बेगार करते थे, अपनी इच्छा से नहीं।^१ **बृहत्कल्पभाष्य** से ज्ञात होता है कि जब राजा या राज्यकर्मचारी यात्रा पर जाते थे तो मार्ग में जो गांव पड़ते थे उनको यात्रा का व्यय वहन करना पड़ता था।^२ **निशीथचूर्णि** से ज्ञात होता है कि नट, वरुड, छिटपग आदि को अपना एक दिन का वेतन या परिश्रम राज्य कर के रूप में देना पड़ता था।^३ **आदिपुराण** में बेगार लेना राजा का अधिकार कहा गया है।^४ **मनुस्मृति** में भी बड़ई, लोहार आदि शिल्पियों द्वारा राजा के लिए एक दिन की बेगार करने का निर्देश है।^५ गौतमधर्मसूत्र में भी शिल्पियों द्वारा मास में एक दिन राजा के लिये बेगार करने और उस दिन राजा द्वारा उन्हें भोजन देने के लिये कहा गया है।^६ श्रेणिक ने अपने पुत्र के जन्मोत्सव पर १० दिनों के लिये किसानों को बेगार से मुक्त कर दिया था।^७ इसी प्रकार रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने जनकल्याणार्थ सुदर्शन झील का जोर्णोद्वार करवाया था। उसने उस पुण्यकार्य हेतु न तो प्रजा पर अतिरिक्त कर लगाये और न ही किसी से बेगार ली।^८

राजकीय कर-संग्रह—राज्य को कर न देना अपराध था। करों को कठोरता से संग्रहीत किये जाने के प्रमाण मिलते हैं। **बृहत्कल्पभाष्य** में शस्त्र आदि का भय दिखाकर कर-संग्रह करने का उल्लेख है।^९ **निशीथ-**

१. उत्तराध्ययन, २७/१३

२. बृहत्कल्पभाष्य भाग ५, गाथा ५१७४

३. निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ६२९४, ६२९५

४. विष्टिदण्डकराणांच निबन्धो राजसादद्भवेत्, जिनसेन-आदिपुराण १६/१६८

५. कारुकाञ्जिलिपिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः स्कैकं कारयेत्कर्म मासिमासि महीपीता, मनुस्मृति, ७/१३८

६. गौतमधर्मसूत्र, २/१/३१, २/१/३४

७. ज्ञाताघर्मकथांग १/८१

८. रुद्रदामन का जूनागढ़ शिलालेख पंक्ति १५; ए० के० नारायण : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, पृ० ४८

९. बृहत्कल्पभाष्य भाग ५, गाथा ५१०४

चूर्णि के एक प्रसंग से ज्ञात होता है कि सोपारक नगर के राजा द्वारा व्यापारियों पर लगाये गये कर को न देने से क्रुद्ध राजा ने उन्हें अग्नि-प्रवेश का दण्ड दिया था ।^१ विपाकसूत्र में वर्णित विजयवर्धमान खेट का एकादि नामक राष्ट्रकूट ५०० ग्रामों से बड़ी कठोरता से कर ग्रहण करता था ।^२ जातक कथाओं में भी प्रजा को कष्ट देकर कर-ग्रहण करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं जैसे ब्रह्मदत्त के शासनकाल में पांचालदेश के कर्मचारी बड़ी निर्दयता से कर ग्रहण करते थे ।^३ राज्याधिकारी उत्कोच लेने के लिये कभी-कभी प्रजा को पीड़ित करते थे । एक पान विक्रेता का एक राज-कर्मचारी से झगड़ा हो गया अन्ततः उसे राज्याधिकारी को वस्त्रयुगल देकर समझौता करना पड़ा ।^४ कर ग्रहण करने वाले अधिकारी झूठे और लोभी भी होते थे ।^५ कुछ राज्याधिकारियों द्वारा कर-धन की चोरी का उल्लेख प्राप्त होता है । निशीथचूर्णि में वर्णित एक राजा ने राज्य के कोष्ठागार से तीस अन्न के वर्तनों का स्वयं उपभोग करने वाले अधिका-रियों को दण्डित किया था ।^६

राज्य के कोश में कर जमा करने का समय निर्धारित होता था किन्तु विशेष परिस्थितियों में करदाताओं को दो-तीन मास की छूट भी प्रदान की जाती थी । किन्तु छूट की अवधि के बाद भी कर न देने पर उन्हें दण्डित किया जाता था ।^७ व्यवहारभाष्य में एक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख है जिसको राजा के अनुग्रह से दो-तीन वर्ष के लिए कर से छूट मिल गई थी । अतः वह इस अवधि में न तो राज्यकर्मचारियों को प्रसन्न करने के

-
१. स्वगकरं मग्निर्ज्जति ते य 'अकरे' त्ति पुत्ताणुपुत्तिओ करो भविस्सई ण देमो । जति ण देह, तो अग्निपवेसं करेह—निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ५१५६; बृहत्कल्पभाष्य भाग ३, गाथा २५०६-७
 २. विपाकसूत्र, १/४९
 ३. गण्डतिन्दुजातक आनन्द कौसल्यायन जातककथा ५/१९२
 ४. निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ६४१३
 ५. प्रश्नव्याकरण २/३
 ६. पुरेसु अहिवरण्णो कोट्ठागारा तेहितो पत्तेयं घण्णस्स तीसं तीसं कुंभा गहिया—निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ६४०८
 ७. निशीथचूर्णि भाग ४, गाथा ६२९६
- १२

लिये भोजन कराता और न ही स्वयं वेष्टि करता ।^१

करमुक्ति—कभी-कभी राजा अस्थायी या स्थायी रूप से अपनी प्रजा को करमुक्त कर देते थे । राजा सिद्धार्थ ने महावीर के जन्मोत्सव के अवसर पर दस दिनों के लिए कुण्डग्राम को भूमिकर, चुंगीकर, दण्ड और बेगार से मुक्त कर दिया था ।^२ राजा श्रेणिक द्वारा भी मेघकुमार के जन्म पर राजगिरि को दस दिनों के लिये सभी करों से मुक्त कर देने का उल्लेख है ।^३ प्रायः राजा व्यापारियों से प्रसन्न होकर, उनसे वाणिज्य-शुल्क नहीं लेते थे । **ज्ञाताधर्मकथांग** में वर्णित है कि हस्तिशीर्ष नगर के पोतवणिकों से कलियद्वीप में पाये जाने वाले सुन्दर घोड़ों की सूचना प्राप्त होने पर प्रसन्न होकर राजा कनककेतु ने उन्हें व्यापार की अनुमति दी और साथ ही उन्हें करों से भी मुक्त कर दिया ।^४ अशोक ने बुद्ध के जन्म-स्थान लुम्बिनी ग्राम के भूमि-कर को घटा कर $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{8}$ कर दिया था ।^५ महाराज हस्तिन के खोह ताम्रपत्र अभिलेख से ज्ञात होता है कि राजा ने अग्रहार, उद्वंग तथा उपरिकर के साथ ब्राह्मणों को भूमि दान दिया था ।^६ मनु ने निर्धन, भिक्षुक, निर्बल, वृद्ध, साधु आदि से कर लेने का निषेध किया है ।^७

करापवंचन—प्राचीनकाल में भी करों तथा शुल्कों से बचने के लिये कुछ लोग अपनी आय छिपाने का प्रयत्न करते थे । **राजप्रश्नीय** से सूचना मिलती है कि अंकरत्न, शंखरत्न और दंतरत्न के व्यापारी राजकीय शुल्क से बचने के लिये राजमार्गों से यात्रा नहीं करते थे ।^८ इसी प्रकार उत्तरा-

१. राजकृत अनुग्रहवशेन एकद्वित्रयादिवर्षं मर्यादया न च हिरण्यादि प्रददाति नापि वेष्टिकरोति न अपि भक्तं ददाति, व्यवहारभाष्य, २/२९

२. उम्मुक्कं उक्करं उक्किट्ठं अदिज्जं अभडप्पवेसं अदंडकोदंडिम, कल्पसूत्र, ९९

३. ज्ञाताधर्मकथांग १/८१

४. वही, १७/१७

५. रुक्मिणिदेइ लघु स्तम्भ लेख ४; नारायण, ए० के० : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह १, पृ० ६९

६. वही, भाग २, पृ० १२४

७. मनुस्मृति, ८/३९४

८. अंकवणियाइवा संखवणियाइवा यंतवणियाइवा सुकं मसिउकामाणो सम्भं पंथ प्रच्छसि, राजप्रश्नीयसूत्र ४८

ध्ययनचूर्णि में उल्लेख है कि विदेशी व्यापार से लौटे, करापवंचन का प्रयास करने पर, अचल नामक व्यापारी के श्रमार्जित सोना-चाँदी तथा बहुमूल्य मोतियों को राजा ने छीन लिया था।^१ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी कर की चोरी करने वाले व्यापारियों के लिये दण्ड का विधान किया गया है।^२

राज्य के व्यय के स्रोत

राजकीय कोश का अधिकांश प्रजाहित के कार्यों में व्यय किया जाता था। जो राजा कर ग्रहण करके भी प्रजा की देखभाल नहीं करता वह कुनृप माना जाता था। इसी कारण कैकयार्थ के राजा प्रदेशी की निन्दा की गई थी, क्योंकि वह प्रजा से कर लेकर भी उनका उचित रूप से पालन नहीं करता था।^३ मनु के अनुसार भी प्रजा से कर लेकर प्रजा-पालन न करने वाला राजा नरकगामी होता था।^४ सूत्रकृतांग के अनुसार उत्तम राजा पीड़ित प्राणियों का रक्षक होता है, प्रजा के कल्याण के लिए नैतिकता और मर्यादा की स्थापना करता है। वह सेतु, नहर, पुल तथा सड़क का निर्माण करवाता है, भूमि तथा कृषि की उचित व्यवस्था करता है। राज्य को चोर, लुटेरों तथा उपद्रवियों से रहित करके उसकी दुर्भिक्ष और महामारी से रक्षा करता है।^५

मुख्य रूप से करों से प्राप्त धन का उपभोग शासन-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, अन्तःपुर-व्यवस्था और जन-कल्याण के लिए किया जाता था।

शासन-व्यवस्था पर व्यय

शासन की सुविधा के लिये पूरा राज्य जनपद, नगर, निगम, द्रोणमुख, पत्तन, मंडब, ग्राम, आकर, पल्ली, खेट, खर्वट, संवाह, सन्निवेश और

१. उत्तराध्ययनचूर्णि, ४/१२०

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/२१/३९

३. राजप्रश्नीयसूत्र ५५

४. योऽरक्षन्बलि मादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।

प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ मनुस्मृति, ८/३०७

५. दयप्पत्ते सीमंकरे सीमंघरे खेमंकये खेमंघरे मणुस्सिंदे जणवदपिया जणवददु-रोहिते सेउकरे णरवरे—सूत्रकृतांग, २/१/६४३

घोष^१ आदि विभागों में विभक्त था जहाँ विभिन्न पदाधिकारी एवं राज-कर्मचारी नियुक्त थे। शासन-व्यवस्था के लिये मुख्य यवराज, श्रेष्ठि, अमात्य, पुरोहित आदि सहायक पुरुष^२ तो होते ही थे इसके अतिरिक्त जैन साहित्य में गणनायक, दंडनायक, राजेश्वर, सेनापति, तलवार, मांड-विक, कौटुम्बिक, महामन्त्री, मंत्री, भण्डारी, गणक, द्वारपाल, अंगरक्षक, दूत, सन्धिपाल आदि राज्याधिकारियों का उल्लेख मिलता है।^३ राज्य की आय का बहुत बड़ा भाग अधिकारियों के वेतन पर व्यय होता था। ऊँचे पदाधिकारियों को बहुत धन दिया जाता था जिससे कोश का एक बड़ा भाग निकल जाता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्यकाल में राजकीय आय का १/४ भाग अधिकारियों के वेतन पर व्यय होता था।^४ व्यवहारभाष्य में राजकीय आय से राजकर्मचारियों को वेतन देने का उल्लेख है।^५

सैन्य-व्यवस्था पर व्यय

आंतरिक शान्ति और बाह्य सुरक्षा के लिये राजा विशाल सेना रखते थे, सेना के चार अंग होते थे—हस्तिसेना, अश्वसेना, पुरुथसेना और पदाति-सेना, इसी कारण इसे चतुरंगिणी कहा जाता था। स्थानांग में भैंसों की सेना का भी उल्लेख है।^६ सेना की पूरी व्यवस्था यथा सेना के पशुओं, अस्त्र-शस्त्रों तथा सैनिकों और उनके अध्यक्षों के भरण-पोषण और उनके वेतन आदि पर राज्य का बहुत सा धन व्यय होता था। राजप्रश्नीय से ज्ञात होता है कि कैकयार्ध का राजा प्रदेशी राज्य की आय का १/४ भाग सेना पर व्यय करता था।^७ खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से पता

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १०८८-९५

२. प्रश्नव्याकरण ४/८ ; निशीथचूर्णि भाग २ गाथा २५०२

३. ज्ञाताधर्मकथांग १/२४ ; औपपात्तिक सूत्र ४० ; निशीथचूर्णि, भाग २ गाथा २५०५-३

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र, ५/३/९१

५. व्यवहारभाष्य, गाथा २९

६. ज्ञाताधर्मकथांग, ३३; भगवतीसूत्र ७/९/७ : स्थानांग ५/५७

७. राजप्रश्नीय, सूत्र ४३

चलता है कि उसने ११३५ सुवर्णमुद्रायें व्यय करके हस्ती, अश्व, रथ और पैदल सेना का संगठन किया था।^१

न्याय-व्यवस्था और सुरक्षा पर व्यय

देश में शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना हेतु न्याय की समुचित व्यवस्था थी।^२ राज्य की सुरक्षा के लिये कई राज्याधिकारी नियुक्त किये जाते थे। ग्राम-रक्षा अधिकारी "सिरोरक्ष" नगर-रक्षा अधिकारी "कोट्ट-पाल", निगम का रक्षा करने वाला "श्रेष्ठो" और देश-विदेश में रक्षा करने वाले को "सिरोरक्ष" कहा जाता था।^३ ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख है कि जब धान्य नामक सार्थवाह का पुत्र खो गया था तो उसने नगर-रक्षकों को सूचित कर सहायता की प्रार्थना की थी।^४ इसी प्रकार एक और सार्थवाह ने चिलातचोर को पकड़ने में राज्य के सुरक्षा-धिकारियों की सहायता प्राप्त की थी।^५ बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि राज्य का कारणिक नामक राज्याधिकारी न्यायालय में वादों-प्रति-वादों के आधार पर अभियोगों का निर्णय करता था।^६ आवश्यकचूर्णि में भी न्याय करने वाले राज्याधिकारियों का उल्लेख हुआ है।^७ बृहत्कल्प-भाष्य के अनुसार चोरी और लड़ाई-जगड़े के अभियोग राजकुल में जाते थे।^८ कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार निष्पक्ष न्याय करना एवं अपराधी को दण्ड देना राजा का प्रमुख कर्तव्य था।^९ वसुदेवहिण्डी में उल्लेख है कि पोतनपुर के व्यापारी धरण और रेवती में विवाद हो गया अन्ततः राजा से निवेदन किया गया। राजा ने कारणिक को न्याय करने की आज्ञा दी।^{१०} इसी प्रकार धन का व्यवहार करने वालों के विवाद भी

१. खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख पंक्ति ४; नारायण, ए० के० : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, द्वितीय भाग, पृ० ७३

२. स्थानांग ७/६६

३. निशीथचूर्णि भाग २ गाथा १५६८

४. ज्ञाताधर्मकथांग २/३१

५. वही, १८/३९

६. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा २२८१

७. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० १८१

८. बृहत्कल्पभाष्य भाग ३, गाथा २६५५, २८०३; व्यवहारभाष्य ७/४४३

९. कौटिलीय अर्थशास्त्र, ३/१/५८

१०. वसुदेवहिण्डी भाग १, पृष्ठ २९५

१८२ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

राज्य के न्यायालयों में जाते थे ।^१ वसुदेवहिण्डी में ही एक ग्रामणी का उल्लेख हुआ है जो रात को चोरी से अपने खेतों में पानी दे देता था उसके विरुद्ध साक्ष्य मिलने पर और दोष सिद्ध हो जाने पर उसे दण्डित किया गया था ।^२ एक मृतक की संपत्ति पर अधिकार हेतु एक ही पुत्र को अपना बताने वाली दो स्त्रियों का विवाद राजसभा में गया था ।^३ आवश्यकचूर्णि से ज्ञात होता है कि करकंडु और ब्राह्मण-पुत्र में झगड़ा हो गया था दोनों न्याय हेतु राजकुल में गये थे ।^४ विपाकसूत्र में उल्लेख है कि अपराध न स्वीकार करने पर अभियुक्तों को यंत्रणायें दी जाती थीं और अपराध की गम्भीरता के अनुसार दण्डित किया जाता था ।^५ राज्य के न्यायालयों में न्यायिक प्रक्रिया, कारावासों की व्यवस्था, छोटे-बड़े अधिकारियों के वेतन पर राज्य का बहुत सा धन व्यय होता था ।

अन्तःपुर-व्यवस्था पर व्यय

ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में उत्तरी भारत में एकतंत्रीय राज्य स्थापित हो चुके थे । यहाँ राजाओं का जीवन बड़ा ऐश्वर्यशाली और विलासमय था । भव्य अंतःपुर, उत्तम यान-वाहन, बहुमूल्य वस्त्राभूषण एवं साज-शृंगार उनके ऐश्वर्य के प्रतीक थे । उनकी सेवा में दास-दासी नियुक्त थे । उनके विशाल अन्तःपुर पर राज्य का अत्यधिक धन व्यय होता था । राजप्रश्नीय से ज्ञात होता है कि कैकयार्थ का राजा प्रदेशी राजकीय आय का १/४ भाग अन्तःपुर के रख-रखाव पर व्यय करता था ।^६ निशीथचूर्णि में उल्लेख है कि हेमपुर के राजकुमार के अन्तःपुर में ५०० स्त्रियां थीं^७ । निश्चय ही उनके भरण-पोषण हेतु अत्यधिक धन व्यय किया जाता होगा । इस प्रकार राजकीय आय का बहुत बड़ा भाग अन्तःपुर के ऊपर ही व्यय हो जाता था ।

१. वसुदेवहिण्डी भाग १, पृ० २९५

२. वही,

३. वही,

४. आवश्यकचूर्णि, भाग २, पृ० २०६

५. विपाकसूत्र, ६/३

६. राजप्रश्नीयसूत्र ८३

७. निशीथचूर्णि भाग ३ गाथा ३५७५

जन-कल्याण पर व्यय

प्रजा-हित का ध्यान रखने वाला राजा ही उत्तम माना जाता था। सोमदेवसूरि के अनुसार जब राजा न्यायपूर्वक प्रजा पालन करता है तो समस्त दिशायें कामधेनु के समान प्रजा को अभिलषित वस्तु देने वाली हो जाती हैं।^१ कौटिल्य ने राजा को व्यापार और कृषि की सुविधा के लिये जलमार्ग, स्थलमार्ग, पत्तन, बाँध आदि निर्मित करवाने का आदेश दिया था।^२ मेगस्थनीज के अनुसार राज्याधिकारी सार्वजनिक कार्य जैसे सड़कों, बाँधों, नहरों आदि का निर्माण करवाते थे।^३ प्रजा की सुविधा के लिये सभा-गृह, उपवन, जलशालायें आदि बनाई जाती थीं। अशोक के शिलालेखों से सूचित होता है कि उसने मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय, औषधालय तथा सड़कों के दोनों ओर छायादार फलवाले वृक्ष, कुएं तथा प्याऊँ की व्यवस्था करवाई थी।^४ ओघनियुक्ति से ज्ञात होता है कि दैवीय विपदा जैसे दुर्भिक्ष, अनावृष्टि, अतिवृष्टि और महामारी के समय प्रजा की सहायता की जाती थी। ऐसे समय में राज्य के सुरक्षित भण्डारों एवं कोष्ठागारों से प्रजा को अन्न वितरित किया जाता था और निर्धनों को राज्य की ओर से अन्न प्रदान किया जाता था।^५ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि सम्राट अशोक के प्रपौत्र सम्प्रति ने नगर के चारों द्वारों पर दानशालायें खुलवाई थीं जहाँ निःशुल्क भोजन उपलब्ध था।^६ राजप्रश्नीय से ज्ञात होता है कि राजा प्रदेशी जब केशीश्रमण का अनुयायी बन गया तो वह अपनी ७००० गांवों की आय का चौथाई भाग ब्राह्मण, भिक्षुओं को दान देने में व्यय करने लगा।^७ गौतमीपुत्र

१. सोमदेवसूरि, नोतिवाक्यामृतम् १७/४९

२. वाणिकपथप्रचारान् वारिस्थलपथपण्य पत्तनानि च, कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/१/१९

३. पुरी, बैजनाथ, इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई अर्ली ग्रीक राईटर्स, पृ० ६२

४. अशोक गिरनार का द्वितीय शिलालेख पंक्ति ५-८, नारायण, ए० के० : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह १, पृ० ५

५. ओघनियुक्ति, पृ० २८

६. निशीथचूर्णि, भाग ४, गाथा ५७४७, ५७५६

७. राजप्रश्नीयसूत्र ८३

शातकर्णिक के नासिक गुहा अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने धर्मसंधों को भूमि दान में दी थी।^१ गुप्तकाल के शिलालेखों में भी राजाओं द्वारा धर्मार्थ संधों को भूमिदान देने का उल्लेख है।^२ नासिक गुहा लेख के अनुसार उषवदात ने गोवर्धन की श्रेणियों में ३००० कार्षापण जमा कराये थे जिससे उसके व्याज से भिक्षुओं को भोजन-वस्त्र प्राप्त होता रहे।^३

अन्तकृतदशांग के उल्लेख से ज्ञात होता है कि कभी-कभी जिन परिवारों के भरण-पोषण करने वाले मुख्य सदस्य की मृत्यु हो जाती थी, तो राज्य उन परिवारों के निर्वाह का दायित्व वहन करता था जैसे वामुदेव कृष्ण ने यह घोषणा की थी कि जो युवराज, तलवर, मांडविक, कौटुम्बिक, इभ्यश्रेष्ठि, दीक्षा लेंगे उनके परिवार के बालक, वृद्ध, रोगी का भरण-पोषण राज्य करेगा।^४ कौटिल्य ने भी राजा को बालक, वृद्ध, रोगी विपत्तिग्रस्त एवं अनाथ लोगों के भरण-पोषण का निर्देश दिया है।^५ हाथीगुम्फा लेख के अनुसार कलिङ्ग नरेश खारवेल ने कल्याणकारी कार्यों के लिये प्रभूत धन व्यय किया था। राजा, प्रजा के मनोरंजन के लिये संगीत का आयोजन करवाता था।^६ श्रेणिक ने पुत्र-जन्मोत्सव पर नगर में गायन, वादन और नृत्य का दस दिन तक चलने वाला आयोजन करवाया था।^७ उक्त संदर्भों से प्रतीत होता है कि राज्य की आय का बहुत बड़ा भाग जनकल्याण पर व्यय किया जाता था।

इस प्रकार राज्य की आय तथा व्यय के उपरिलिखित विवेचन से भाष्यकाल तथा चूर्णिकाल में राजस्व की उन्नत व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत होता है।



१. गौतमीपुत्र शातकर्णिक का नासिक गुहा अभिलेख पंक्ति ४ ; नारायण, ए०के० प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह २, पृ० ६
२. बैन्यगुप्त का गुणेश्वर ताम्रपत्र अभिलेख, पंक्ति ४, ९ ; वही, भाग २, पृ० १६३
३. नहपानकालीन नासिक गुहा लेख पंक्ति २-३ वही, भाग २, पृ० ३३
४. अन्तकृतदशांग ५/१/७
५. खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख पंक्ति १४-१६ ; नारायण, ए०के० : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, २, पृ० ७३
६. ज्ञातधर्मकथांग १/८१
७. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/१/१९

अष्टम अध्याय

सामान्य जीवन-शैली

देश के आर्थिक विकास में मनुष्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मनुष्य के द्वारा ही उत्पादन के साधनों का उचित विदोहन सम्भव है। आर्थिक क्रियायें उपभोक्ता के लिये ही की जाती हैं। अतः उपभोग ही उत्पत्ति का आधार है और वही उत्पत्ति का मार्ग-निर्धारण करता है। व्यक्ति के आर्थिक जीवन का अनुमान उसके उपभोग से ही लगाया जा सकता है। कार्ल मार्क्स का भी विचार है कि मानव का जीवन स्तर उत्पादन के ढंग पर निर्भर करता है। मनुष्य को उपभोग हेतु जो उपलब्ध होता है वह तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था का फल होता है और व्यवस्थित उपभोग से ही मनुष्य का आर्थिक कल्याण सम्भव होता है।^१ अधिक पौष्टिक आहार करने वाले, स्वास्थ्यप्रद आवासगृहों में रहने वाले, स्वस्थ और प्रसन्नचित्त लोगों की कार्यकुशलता और उत्पादन शक्ति निश्चय ही अधिक होगी।

आगमों के रचनाकाल में भी आर्थिक विकास के लिये मनुष्य के शारीरिक और बौद्धिक विकास को महत्त्व दिया गया था। स्थानांग में दस प्रकार के सुखों में शारीरिक सुख को प्रथम स्थान दिया गया है।^२ ज्ञाता-धर्मकथांग से ज्ञात होता है कि समाज में मनुष्य के सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान दिया जाता था।^३

निशीथचूर्णि में उल्लेख है कि जहाँ निवास के लिए सरोवरों और तालाबों से युक्त बस्ती हो, खाने के लिये शालि, इक्षु आदि धान्यों की प्रचुरता हो, गो, महिष आदि पशुधन की अधिकता हो और जहाँ सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत शरीर वाले लोग निवास करते हों वही स्थान उत्तम है।^४

१. सिन्हा, जे० एन० : मार्क्सवादो नैतिक सिद्धान्त, पृ० २१९

२. स्थानांग १०/८३

३. ज्ञाताधर्मकथांग, १/२१

४. निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ४३६०

इससे स्पष्ट होता है कि चूर्णिकाल में भी मनुष्य के जीवन-स्तर के आधार भोजन, आवास और वेष-भूषा ही थे। अतः प्राचीन जैन साहित्य के माध्यम से आर्थिक जीवन के अध्ययन के लिये भोजन, वेश-भूषा, आवास, मनोरंजन, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा पर विचार करना समीचीन होगा।

भोजन

भोजन मनुष्य के जीवन को प्राथमिक आवश्यकता है। जैन ग्रंथों में विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि भोजन के लिये खाद्य पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे।^१ अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार व्यक्ति पौष्टिक एवं स्वादिष्ट भोजन करते थे। दशवैकालिक-सूत्र से ज्ञात होता है कि समाज में खाद्य, स्वाद्य, लेय और पेय चार प्रकार के भोजन का प्रचलन था।^२ शरीर के स्वास्थ्य और पुष्टि का ध्यान रखते हुए ऋतुओं के अनुकूल भोजन किया जाता था। दशवैकालिक-चूर्ण से सूचना मिलती है कि शरद् ऋतु में वात तथा पित्त को नाश करने वाले, हेमन्त में उष्णता प्रदान करने वाले, वसन्त में श्लेष्म को हरने वाले, ग्रीष्म में शीतलता प्रदान करने वाले और वर्षा ऋतु में भी उष्णता प्रदान करने वाले अर्थात् नमी को हरने वाले पदार्थों का सेवन किया जाता था।^३ व्यवहारभाष्य से ज्ञात होता है कि कलमशालि, व्रीहि, तन्दुल, कोद्रव, गोधूम, यव और रालक आदि धान्यों से भाँति-भाँति के “ओदन” बनाये जाते थे।^४ कोद्रव, यव और रालग का भोजन निर्धन लोग करते थे।^५ निशीथचूर्ण से ज्ञात होता है कि एक निर्धन स्त्री के घर कोद्रव का ही भोजन बनता था। एक बार उसका भाई कहीं दूर देश से आया उसके सम्मान के लिये वह किसी धनी के घर से भोजन हेतु शालि माँग कर

१. निशीथचूर्ण भाग २ गाथा १०२८, १०२९, भाग ३, गाथा ४६५६;

आवश्यकचूर्ण भाग १, पृ० १९८

२. दशवैकालिक, ४/१६

३. सरदि वात पित्त हरणि दग्वाणि आहरति हेमन्ते उष्हाणि, वंसते हिमरहाणि गिम्हे सथिकाणि वासासु उपहवणणि, दशवैकालिकचूर्ण, पृ० ३/५

४. व्यवहारभाष्य, ६/५५

५. पिडनियुक्ति गाथा, १६३

लाई ।^१ सम्पन्न लोग सुगन्धित कमलशालि का आहार करते थे ।^२ ऐसा प्रतीत होता है कि कमलशालि महंगा तथा कोद्रव, यव और रालक की तुलना में सस्ता धान्य रहा होगा । ओदन के साथ मूग, मांष, चना, अरहर, कुलत्थ, मटर दालों से निर्मित “सूव” (सूप) बनाये जाते थे ।^३ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि भोजन में सुपाच्य और पौष्टिक तरकारियों की प्रधानता थी ।^४ दाल और तरकारियों को घी से स्निग्ध करके स्वादिष्ट बनाने के लिये हींग और जीरे का छौंका दिया जाता था ।^५ गोधन सम्पन्न समाज होने के कारण दुग्ध, दधि, घृत, तक्र, नवनीत आदि का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया जाता था ।^६ चूर्णियों से ज्ञात होता है कि चीनी मिश्रित दूध स्वास्थ्यवर्धक माना जाता था ।^७ नये चावलों और दूध से खीर बनाई जाती थी^८ और मधु डालकर उसे और पौष्टिक बनाया जाता था ।^९ भोजन के साथ तरह-तरह के मिष्ठान्तों का भी प्रचलन था ।^{१०} भोजन में फलों का भी बड़ा महत्त्व था । आचारांग में आम, केला, बिल्व, नारियल, ताड़, श्रीपर्णी, दाडिम, कसेरु, सिंघाड़ा आदि फलों का उल्लेख हुआ है ।^{११} गन्ने को छील कर गंडेरियां बना कर इलायची और कपूर से सुगन्धित करके खाया जाता था ।^{१२}

यद्यपि धार्मिक दृष्टि से जैन समाज में मांसाहार वर्जित था, परन्तु समाज में विरल रूप में तथा विशेष परिस्थितियों में यथा रोग से पीड़ित होने पर या दुर्भिक्ष से आक्रान्त होने पर मांस ग्रहण किया जा सकता

-
१. निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४४९५
 २. उपासकदशांग, १/२९ : निशीथचूर्णि भाग ३, गाथा ४६५६
 ३. वही, १/२९
 ४. निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा ४८३७
 ५. निशीथचूर्णि भाग २ गाथा १६५५ ; बृहत्कल्पभाष्य भाग २ गाथा १६१३
 ६. निशीथचूर्णि, भाग २, गाथा ११९९
 ७. वही, भाग १ गाथा ३०२५
 ८. दशवैकालिकचूर्णि, पृ० ३५६
 ९. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० २८८
 १०. प्रश्नव्याकरण, १०।३; दशवैकालिक ५।७२; उपासकदशांग, १।२९
 ११. आचारांग, २।१।४।४७-४८
 १२. उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० ११८

था।^१ विपाकसूत्र में नगरों में तिमुहानियों और चौमुहानियों पर ऐसी दुकानों का उल्लेख है जहाँ पशुओं का पका मांस बेचा जाता था।^२ भोजन के साथ तरह-तरह के पेय पदार्थों का भी उपयोग किया जाता था।^३ यद्यपि जैन परम्परा में मद्यपान का निषेध था पर जन साधारण में मद्यपान का प्रचलन था। वसुदेवहिण्डी से पता चलता है कि विकास की वस्तु 'मद्य' थी, जिसका पर्वों और विशेष अवसरों पर पान किया जाता था।^४ सखंडी आदि विशेष भोजों पर मद्यपान एक साधारण बात थी इसलिये जैन साधुओं को सखंडी में जाना निषिद्ध था।^५ विपाकसूत्र में पुरुषों के अतिरिक्त विशेष अवसरों पर स्त्रियों के भी मदिरापान के उल्लेख आये हैं।^६ जैन परम्परा में सदाचारी व्यक्ति से यह आशा की जाती थी कि वह इस व्यसन से दूर रहे।

भोजन के उपरान्त मुख को सुवासित करने के उल्लेख भी मिलते हैं। निशीथचूर्ण से पता चलता है कि पान के पत्तों में जायफल, कक्कोल, कपूर, लवंग, सुपाड़ी आदि डालकर खाये जाते थे।^७

इस प्रकार ज्ञात होता है कि भोजन में अन्न, मांस, शाक, फल, दुग्ध तथा उससे बनी वस्तुओं, मिष्ठान्न, मधु, मद्य आदि का सेवन किया जाता था।^८ जैन ग्रन्थों में उच्च तथा निम्न वर्ग की जीवन-शैली में समानता दिखाई नहीं पड़ती। समाज का एक वर्ग बहुत निर्धन था जो कष्टपूर्ण जीवन बिता रहा था उन्हें भरपेट भोजन भी सुलभ नहीं था।^९

१. आचारांग, २।१।९।५१

२. विपाकसूत्र, ३।२१, ८।१९

३. आचारांग, २।१।८।९३

४. संघदासगणि, वसुदेवहिण्डी, १/४६

५. आचारांग, २/१।३।१५

६. विपाक, २।२६

७. जाइफल कक्कोल कपूर लवंग पूगफल ए ते पंच दव्वा तम्बोलपत्तसाहिया
खायइ, निशीथचूर्ण, भाग ३ गाथा ३९९३

८. आचारांग, २।१।४।२४ ; प्रश्नव्याकरण १०।६

९. विपाकसूत्र, १।४; प्रश्नव्याकरण, ३।९

वेश-भूषा

वस्त्रोद्योग उन्नतावस्था पर होने के कारण वस्त्रों की विविधता और बहुलता दोनों प्रचुर परिमाण में लक्षित होती हैं। अपने आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार लोग अपने को अलंकृत करते थे। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भी सामान्यतः दो प्रकार के वस्त्रों का उपयोग किया जाता था अधोवस्त्र अर्थात् नीचे की धोती जैसा वस्त्र और ऊर्ध्ववस्त्र अर्थात् उत्तरीय या दुशाले जैसा वस्त्र।^१ यद्यपि सीवग, तुन्नग (दर्जियों) का उल्लेख हुआ है^२ पर सिले हुये कपड़ों का उल्लेख कहीं नहीं है। समाज में सूती, ऊनी, रेशमी और चर्म-वस्त्रों का प्रचलन था। सर्वसाधारण सूती और सम्पन्न व्यक्ति भाँति-भाँति के सुन्दर रेशमी वस्त्र पहनते थे।^३ स्त्री-पुरुष समानतः सुन्दर, महीन और सुवर्णतारों से बने वस्त्रों का रुचि से पहनते थे। ज्ञातधर्मकथांग से ज्ञात है कि मेघकुमार की माँ रानी धारणी स्वर्णतारों से सुशोभित पारदर्शक और सुन्दर वस्त्र पहनती थी।^४ इसी प्रकार भगवतीसूत्र से ज्ञात होता है कि जमालिकुमार ने ऐसा सुन्दर उत्तरीय धारण कर रखा था जिसके किनारे पर स्वर्णतारों से हंसयुग्म बनाये गये थे।^५ मेगस्थनीज ने भी भारतीयों के स्वर्णतारों से बने वस्त्रों का उल्लेख किया है।^६

देश और काल का ध्यान रखकर वस्त्र धारण किए जाते थे। औपपातिक से पता चलता है कि विशेष अवसरों पर पहने जाने वाले वस्त्र नित्य के वस्त्रों से भिन्न होते थे^७ जैसे सभा में जाने के लिये श्वेत और स्वच्छ वस्त्र पहने जाते थे। पर्वों तथा उत्सवों पर लोग विभिन्न-विभिन्न रंगों के सुन्दर वस्त्र पहनते थे।^८ निशीथचूर्णि में ऋतु के अनुसार वस्त्रों के चयन

१. भगवतीसूत्र १।३३।५७

२. प्रज्ञापना, १।१०५, १०६; जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ३।१०

३. ज्ञाताधर्मकथांग १।३३ ; आचारांग २।५।१।१४४

४. ज्ञाताधर्मकथांग , २/३३

५. भगवतीसूत्र, ९/३

६. पुरी, बैजनाथ, इण्डिया एज डिस्क्राब्ड बाइ अर्ली ग्रीक राईटर्स पृ० ९०

७. औपपातिक सूत्र, १७

८. निशीथचूर्णि, भाग २, गाथा ९५२

किये जाने का उल्लेख है ग्रीष्मकाल में कषाय रंग के सुखद वस्त्र, शीत-काल में लाल रंग के मोटे वस्त्र और वर्षाकाल में कंकुम से रंगे हल्के वस्त्र पहने जाते थे।^१ शीतकाल में भेड़, मृग और ऊँट की बालों से बने ऊनी वस्त्र पहने जाते थे।^२ कपड़ों की विविध रंगों से रंगने, सुगन्धित पदार्थों से सुवासित करने^३ और स्वर्णतारों से सज्जित करने के प्रसंग आगमकाल की आर्थिक सम्पन्नता की ओर संकेत करते हैं।

समाज में सभी वर्गों के स्त्री-पुरुष समानतः आभूषणों से अपने को अलंकृत करते थे। आभूषण सोने, चाँदी, मणि-मुक्ताओं और रत्नों से बनाये जाते थे।^४ स्त्रियाँ कण्ठ में सुन्दर हार, कानों में कुण्डल, हाथों में कड़े, अंगुलियों में अंगूठियाँ, कमर में कमरबन्ध और पैरों में तूपुर पहनती थीं।^५ श्रेणिकपुत्र मेघकुमार को दीक्षोत्सव के समय हार, अर्धहार, एकावली, रत्नावली, प्रलम्ब, पाद, त्रुटित, केयूर, कटिसूत्र, कुण्डल, मुद्रिकायें और रत्न-जड़ित मुकुट पहनाया गया था।^६

साज-सज्जा में पुरुषों का भी बड़ा महत्त्व था। ज्ञाताधर्मकथांग में स्त्रियों के फूलों के आभूषण पहनने के उल्लेख आये हैं।^७ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि पाँच रंग के सुगन्धित पुष्पों की मालायें धारण की जाती थीं।^८ पर्वों तथा उत्सवों के अवसर पर फूलों की बड़ी आवश्यकता पड़ती थी इसलिये फूल-मालाओं का मूल्य बढ़ जाता था।^९ शरीर को सजाने-संवारने के लिये विविध प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग किया जाता था। आचारांग से सूचित होता है कि चन्दन, कपूर और लोध्र के विलेपनों

१. आवश्यकचूर्णि, भाग २, पृ० १८१

२. आचारांग, २/५/१/१४५

३. वही, २/५/१/१४४ ; बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा ३००१

४. वही, २/२/१/७०

५. भगवतीसूत्र, ९/३/३३

६. ज्ञाताधर्मकथांग, १/१२८

७. वही, ८/५७ ; निशीथचूर्णि, भाग २ गाथा २२८७

८. निशीथचूर्णि, भाग २ गाथा २२८७

९. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २ गाथा १५९२

और उवटनों से शरीर को सुन्दर बनाया जाया था।^१ सूत्रकृतांग में उल्लिखित स्त्रियों की सौन्दर्यप्रसाधन सामग्री^२ से प्रतीत होता है कि विलासमय पदार्थों का पर्याप्त उत्पादन होता था।

स्त्रियों के समान पुरुष भी आकर्षक लगने के लिये शृंगार में रुचि रखते थे। पुरुषों की प्रसाधन क्रिया विशेषतः स्नान से सम्बन्धित थी। राजाओं और सम्पन्न जन के भव्य स्नानगृह होते थे जहाँ “अंगमर्दक” भी होते थे जो सूक्ष्म से सूक्ष्म अंगमर्दन की क्रियाओं में दक्ष होते थे।^३ राजाओं के इन भव्य स्नान गृहों की तुलना आज के “सोनाबाथ” से की जा सकती है। पुरुषों के शृंगार और मंडन में “नापित” की सेवाओं का भी बड़ा महत्त्व था ये क्षौरकर्म तथा अलंकारकर्म करते थे। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख है कि धन्ना नामक सार्थवाह अलंकारिक सभा में क्षौरकर्म करने गया था।^४ राजगिरि के नंदमणिकार ने पुष्पकरिणी के तट पर ‘अलंकारिक सभा’ बनवाई थी जिसमें क्षौरकर्म करने के लिये वेतन पर नाई रखे थे।^५ वेश-भूषा में पैरों को आच्छादित करने के लिये उपानह अर्थात् जूतों का भी महत्त्व था। भाष्यकाल तथा चूर्णिकाल में चमड़े के भाँति-भाँति के सुन्दर जूते पहने जाते थे।^६

आवास

जोवन में भोजन और वसन के समान आवास का भी महत्त्व है। आर्थिक क्षमता और स्तर के अनुसार ही निवासगृह बनाये जाते थे। बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि वास्तुपाठक घर बनाने से पहले भूमि की परीक्षा करते थे, तत्पश्चात् भवन की नींव दृढ़ की जाती थी और और उसके ऊपर भवन बनाया जाता था।^७ उत्तराध्ययनचूर्णि में ३ प्रकार के भवन—खाट, उसिट और खाट-उसिट का उल्लेख है। खाट—अर्थात्

१. आचारांग, २/२३/९६ : बृहत्कल्पभाष्य, भाग २ गाथा २५५७;
निशीथचूर्णि, भाग २ पृ० २६, भाग ४ गाथा ५२०४
२. सूत्रकृतांग, १/४/२/२८४-८५
३. ज्ञाताधर्मकथांग, ४/२४
४. ज्ञाताधर्मकथांग, २/५८
५. वही, १३/२३
६. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, गाथा २८८५; निशीथचूर्णि भाग २, गाथा ९१४
७. वही, भाग १ गाथा ३३

भूमि को खोदकर उसके नीचे बनाये हुये भौरें या तहखाने जैसे, उसिट— अर्थात् भूमि के उपर बनाये गये और खाट-उसिट अर्थात् भूमि-स्तर के नीचे तथा ऊपर संयुक्त रूप में बनाये गये भवनों का उल्लेख है।^१ निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि निवासस्थानों को कई प्रकार से सुसंस्कृत किया जाता था जैसे कि 'संस्थापन' गृह के जीर्ण स्थान को गिरने से रोकना, परिकर्म—गृहभूमि को समतल करना, उपलेपन अर्थात् शीतकाल में द्वार संकरे कर देना, गर्मी में चौड़े कर देना और वर्षा ऋतु में पानी बहने के मार्ग बनाना आदि क्रियायें की जाती थीं।^२

घरों के निर्माण में पत्थर, चूना, बालू और पकाई गई ईंटों का प्रयोग किया जाता था।^३ आचारांग से स्पष्ट होता है कि निवासगृहों की योजना में पाकगृह, स्नानगृह और शौचगृह बनाये जाते थे। पेयजल के निमित्त कुएं खुदवाये जाते थे। दूषित जल बहाने के लिये नालियाँ बनाई जाती थीं।^४ भवनों की दीवारें चूने या मिट्टी से पोती जाती थीं, छतों और दीवारों पर चित्रकारी की जाती थी।^५ सम्पन्न लोगों के घर सोने-चाँदी और मणियों से खचित स्तम्भों वाले, स्फटिकमणियों की भूमि वाले^६, एकाधिक तलों वाले^७, ऋतु के अनुकूल सर्वसुविधा सम्पन्न होते थे।^८ कल्पसूत्र से पता चलता है कि साधारण गृहस्थ भी शुद्धवायु के आवागमन वाले घरों में निवास करते थे जहाँ कम से कम कुएँ का साफ पानी और गंदे पानी के निकास के लिये नाली बनी रहती थी।^९ आचारांग से ज्ञात होता है कि सम्पन्न व्यक्तियों की तुलना में निर्धन व्यक्तियों के

१. उत्तराध्ययनचूर्णि, ४/१००

२. निशीथचूर्णि, भाग २, गाथा २०२९, २०३१

३. प्रश्नव्याकरण २/१३; बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४, गाथा ४७६८

४. आचारांग, २/१/६/३२

५. ज्ञाताधर्मकथांग, १/१८

६. कल्पसूत्र, १५

७. उत्तराध्ययन, १९/४,

८. निशीथचूर्णि, भाग ३, गाथा २७९४

९. कल्पसूत्र, २२५

साधारण निवास योग्य, लकड़ी की दीवारों वाले, छप्पर की छतों वाले, चटाई से ढके द्वारों वाले और गोबर से लीपी भूमि वाले होते थे।^३

मनोरंजन

सदा से जीवन में मनोरंजन का महत्त्व रहा है। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि प्रजा के मनोरंजन के लिये राज्य की ओर से पर्याप्त प्रबन्ध किये जाते थे।^४ हाथीगुम्फा लेख से भी ज्ञात होता है कि खारवेल ने अपनी प्रजा के मनोरंजन के लिये बहुत सा धन व्यय करके विशेष आयोजन करवाये थे।^५

औपपातिक और राजप्रश्नीय आदि जैन ग्रन्थों से यक्षायतनों का अस्तित्व ज्ञात होता है। जिनका स्वरूप वर्तमान मनोरंजन गृहों (क्लबों) जैसा रहा होगा। अवकाश के समय यहां एकत्र होकर लोग नृत्य, संगीत, मल्लयुद्ध, कथा-कहानी, बाजीगिरों तथा जादूगरों के विविध खेल-तमाशों का आनन्द लेते थे।^६ वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि गाँव के बाहर ऐन्द्रजालिक जादू का खेल दिखाते थे।^७ दशवैकालिकचूर्णि में भी यत्र-तत्र आजीविका के लिये लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने वाले ऐन्द्रजालिकों का उल्लेख हुआ है।^८ जातककथा में मनोरंजन के लिए सांप का खेल दिखाकर आजीविका अर्जित करने वाले सपेरों का उल्लेख हुआ है।^९

मानव सदा से उत्सव प्रिय रहा है। आचारांग से ज्ञात होता है कि उत्सव के अवसर पर स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, युवा सभी आभूषणों से विभूषित होकर नाचते, गाते, बजाते, भोजन-पान करते आनन्दमग्न हो जाते थे।^{१०} उत्तराध्ययनचूर्णि में हर्षोल्लास के साथ मनाये गये वसन्तोत्सव,

१. आचारांग, २/२/१/१६४; बृहत्कल्पभाष्य, भाग ५, गाथा १६७५
२. ज्ञाताधर्मकथांग, १/७६; कल्पसूत्र, सूत्र ९८
३. खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख, पंक्ति ४; नारायण ए० के० : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह २, पृ० ७३
४. औपपातिक सूत्र २; राजप्रश्नीय सूत्र २
५. “बहिय गामस्य इन्द्रजालिय” —संधदासगणि, वसुदेवहिण्डी, भाग १ पृ० १९५
६. दशवैकालिकचूर्णि, पृ० ३२१
७. चम्पेय्यजातक आनन्द कौसल्यायन, जातककथा ५/४५
८. आचारांग, २/१२/१७१

कौमुदी-उत्सव और मदनोत्सव का उल्लेख है जब स्त्री-पुरुष संगीत के द्वारा मनोरंजन करके मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करते थे।^१ उत्सवायोजनों में जनता के साथ राज्य के भी सक्रिय सहयोग के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।^२ गायन, वादन और नृत्य से भी मनोरंजन किया जाता था।^३ संगीत-निपुण नर्तकियाँ सुन्दर नृत्य प्रस्तुत करती थीं।^४ नाटक भी मनोविनोद के स्वस्थ साधन थे। राजप्रश्नीय में बत्तीस प्रकार के नाटकों का उल्लेख हुआ है।^५

मनोरंजन के लिये पशु-पक्षियों को लड़ाया जाता था। जैन ग्रंथों में महिष-युद्ध, कुक्कुट-युद्ध और मयूर-युद्ध आदि का उल्लेख मिलता है। वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि हजारों सिक्कों की शर्तें लगाकर कुक्कुटों का युद्ध करवाया जाता था।^६ दशवैकालिकचूर्णि में बुद्धिल्ल और सागरदत्त नाम के श्रेष्ठिपुत्रों का उल्लेख हुआ है, जो एक लाख मुद्राओं की बाजी लगाकर कुक्कुटों का युद्ध करवाते थे।^७ समाज में द्यूतक्रीड़ा का भी प्रचलन था। वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि धनवान् श्रेष्ठियों के पुत्र द्यूत से अपना मनोरंजन करते थे।^८ विपाकसूत्र में द्यूत-गृहों का भी उल्लेख मिलता है।^९ प्रायः गाँव के बाहर खण्डहर और देव-कुल जुए के अड्डे होते थे^{१०} जहाँ पासों से द्यूत खेला जाता था।^{११} इसके अतिरिक्त कन्दुकक्रीड़ा, मद्यपान, झूला और जलक्रीड़ा भी मनोरंजन के साधन थे।^{१२} राजाओं के व्यस्त जीवन में आखेट मनोरंजन का साधन

१. उत्तराध्ययनचूर्णि, ४/२२१
२. वही, ४/२२१
३. राजप्रश्नीय सूत्र ९७
४. ज्ञाताधर्मकथांग, १/७६
५. राजप्रश्नीय सूत्र १५
६. ज्ञाताधर्मकथांग ३/३३; संघदास गणि, वसुदेवहिण्डी, भाग २/ पृ० २८९
७. दशवैकालिकचूर्णि, पृ० २६९
८. संघदासगणि, वसुदेवहिण्डी भाग २ पृ० ३०९
९. विपाकसूत्र, २/९
१०. देवकुलकादिसु जूयादिपमत्तो—निशीथचूर्णि भाग ३ गाथा ३४९९
११. दशवैकालिक सूत्र, ३/४
१२. गेदगादिसु रमते मज्जपान अंदोलगादिसु ललेते जलमध्ये क्रीडा, निशीथचूर्णि भाग ३ गाथा ४१३७

था।^१ ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि गणिकायें और वारांगनायें भी तत्कालीन समाज का मनोरंजन करती थीं। वे समाज में सम्मानित थीं स्वयं राजा उन्हें रथ, चामर, छत्र, स्वर्णघट आदि से सम्मानित करते थे।^२ धनी और कामी गणिकाओं को प्रभूत धन देकर उनका उपभोग करते थे।^३ कौटिलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि गणिकायें इतनी धनी होती थीं कि इनकी आय पर राज्य कर लेता था।^४

शिक्षा

चरित्र और व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास के लिये शिक्षा परम आवश्यक है। मनुष्य को एक शिष्ट सामाजिक प्राणी बनाने का कार्य शिक्षा ही करती है। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि जीवनोपयोगी ७२ कलाओं की शिक्षा दी जाती थी।^५ उत्तराध्ययन से ज्ञात होता है कि आजीविका के लिये छिन्नविद्या (वस्त्र, काष्ठ आदि की विद्या) एवं स्वरविद्या भौमविद्या, अन्तरिक्षविद्या, लक्षणविद्या, वास्तुविद्या और अंगविचारविद्या सीखी जाती थी।^६

विद्यार्थी को विद्याध्ययन के लिये गुरुकुलों में निवास करना पड़ता था। राजपुत्रों का विद्यार्थी जीवन भी गुरु के सान्निध्य में ही व्यतीत होता था जहाँ वे राजनीति, युद्धविद्या, अर्थनीति आदि अन्यान्य विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करते थे। अन्तकृत्तदशांग से ज्ञात होता है कि भद्रदिलपुर के राजा जितशत्रु के पुत्र अनीयस कुमार को ८ वर्ष की आयु में कलाचार्य के पास विद्याध्ययन के लिये भेजा गया था।^७ गुरु से शिक्षा प्राप्त करने के बाद शिष्य उन्हें गुरुदक्षिणा भेंट करते थे।^८ कन्यायें भी शिक्षा प्राप्त करने के लिये गुरुकुलों में जाती थी पउमचरियं से ज्ञात होता है कि चक्रध्वज की कन्या गुरु के घर में रहकर विद्याध्ययन करती थी।^९ जैन

१. उत्तराध्ययन, १८/१

२. ज्ञाताधर्मकथांग, ३/५

३. वही, ३/१६

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र, २/२/२०

५. उत्तराध्ययन, १५/७

६. ज्ञाताधर्मकथांग, १/८५

७. ज्ञाताधर्मकथांग, १/८६ ; अन्तकृत्तदशांग, ३/१/३

८. अन्तकृत्तदशांग ३/१/३ ; ज्ञाताधर्मकथांग १/८७

९. पउमचरियं, २६/५

ग्रंथों से पता चलता है कि अभिजात कुलों के पुत्र लोकाचार तथा शिष्टाचार की शिक्षा पाने के लिये गणिका के पास भेजे जाते थे। वसुदेवहिण्डी से प्रमाणित है कि राजकुमार धम्मिल को शिक्षा के लिये गणिका के पास भेजा गया था जिसके लिये वह प्रतिदिन गणिका की माँ को ५०० सिक्के देता था।^१ इसी प्रकार आवश्यकचूर्णिसे भी ज्ञात होता है कि नन्द के मंत्री शकडाल के पुत्र स्थूलभद्र को भी कोशानामक गणिका के पास भेजा गया था।^२ गाँव और नगरों में बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिये विद्यालय होते थे। जिन्हें “दारकशाला” या “लेभशाला” कहा जाता था।^३ शिक्षा के प्रसार के लिये राज्य पर्याप्त धन व्यय करता था। नालन्दा और तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय शिक्षा के प्रसार को प्रदर्शित करते हैं।

विद्यार्थी का समाज में बड़ा सम्मान होता था। जब कोई विद्याध्ययन करके घर आता था तो उसका सार्वजनिक सम्मान किया जाता था।^४ जैनग्रंथों में व्यावसायिक और तकनीकी शिक्षा-प्रशिक्षा के विद्यालयों का उल्लेख नहीं मिलता। अनुमान है कि ऐसी विद्या पुत्र को पिता से परम्परा से प्राप्त होती थी और इसी कारण ऐसी विद्या में दक्षता बढ़ जाती थी।
स्वास्थ्य एवं चिकित्सा

सूत्रकाल में लोग अपने स्वास्थ्य के प्रति सजग प्रतीत होते हैं क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र से पता चलता है कि देश में चिकित्सा की सुविधायें उपलब्ध थीं।^५ मौर्य सम्राट अशोक ने अपने राज्य में मनुष्यों और पशुओं के लिए निःशुल्क चिकित्सालय और औषधालय खुलवाये थे।^६ ज्ञाताधर्म-कथांग से सूचना मिलती है कि राजगृह के नन्दनमणिकार ने पुष्करिणी के तट पर एक निःशुल्क चिकित्सालय खुलवाया था जहाँ वेतनभोगी वैद्यों को नियुक्त किया था।^७ राज्य के वैद्य आयुर्वेद के कुशल ज्ञाता हुआ

१. वसुदेवहिण्डी, १/२९

२. आवश्यकचूर्णि, भाग २/१८४ पृ०

३. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३/२९२९

४. उत्तराध्ययन सुखबोध पत्र २३

५. उत्तराध्ययन, १५/८

६. गिरनार की द्वितीय शिलालेख पंक्ति ४-८; नारायण, ए० के० : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह २, पृ० ५

७. ज्ञाताधर्मकथांग, १३/२२

करते थे। विपाकसूत्र से ज्ञात होता है कि वैद्य परम्परागत पंचकर्मो-अभ्यंगन (मालिग), उद्धर्तन (उवटन), स्नेहपान, वमन, स्वेदन आदि से रोग का उपचार कर “रोगी” को रोग-मुक्त कर देते थे।^१

विपाकसूत्र से ही ज्ञात होता है कि कनक राजा का वैद्य धनवन्तरि आयुर्वेद के आठ अंग कुमारभृत्य, शालाक्य, शाल्यहृत्य, कायचिकित्सा, जांगुल, भूतविद्या, रसायण और वाजीकरण का ज्ञाता था वह राजा, रानियों, राज्याधिकारियों, दासियों, श्रमणों, भिक्षुओं और अनाथों की चिकित्सा करता था।^२

व्यवहारभाष्य से ज्ञात होता है कि युद्ध के समय वैद्य प्राथमिक-चिकित्सा के लिये व्रणसंरोहक तैल, घृत, चूर्ण आदि साथ रखते थे और आवश्यकता पड़ने पर घायल योद्धाओं के शरीर में घुसे अस्त्र-शस्त्र को शल्य-क्रिया द्वारा निकालकर उनके घावों की औषध-पट्टी करते थे।^३

इस प्रकार प्राचीन जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित भारतीयों के खान-पान, रहन-सहन, आमोद-प्रमोद, पठन-पाठन, स्वास्थ्य और चिकित्सा के उपरिलिखित विवेचन से तत्कालीन समाज की बहुपक्षीय आर्थिक स्थिति की झलक मिलती है।



१. विपाकसूत्र, २/५५,

२. कुमारभिच्चं, सालागे, सल्लहते, कायतिगिच्छा, जंगोले, भूयविज्जा, रसायणे वाजीकरणे-विपाकसूत्र, ७/१५, १६

३. व्यवहारभाष्य, ५/१०३

उपसंहार

प्राचीन जैन साहित्य आगमों, उन पर लिखी गई नियुक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों, टीकाओं, आगमेतर कथा-ग्रन्थों तथा दार्शनिक ग्रंथों के रूप में सुरक्षित है। मैंने अपने इस-ग्रन्थ में इनमें प्रतिबिम्बित अर्थ-व्यवस्था का चित्रण किया है।

निवृत्तिमार्ग का उपदेश देने वाले जैन ग्रन्थों में भी लौकिक सुख-सुविधाओं के लिए धन के महत्त्व को स्वीकार किया है और धार्मिक नियमों का पालन करते हुये धन का अर्जन किस प्रकार सम्भव है इस तथ्य का विस्तृत विश्लेषण किया है। यद्यपि जैन विचारकों ने आधुनिक अर्थशास्त्रियों की तरह स्पष्ट रूप से उत्पादन के साधनों का भूमि, श्रम, पूँजी तथा प्रबन्ध के रूप में विभाजन नहीं किया है तथापि इन सब तथ्यों का यथावसर विश्लेषण एवं विवेचन किया है जैसे भूमि को कृषि के लिए आवश्यक मानते हुए उत्पादन के लिए प्राकृतिक साधनों के विदोहन को स्वीकार किया है। आर्थिक जीवन में वनों के महत्त्व को देखते हुए वन सम्पदा को सुरक्षित रखने पर बल देते हुए, कृषि आदि के लिए वनों को जलाने और काटने का स्पष्ट निषेध किया है। इसी प्रकार जलसम्पदा को भी सुरक्षित रखने हेतु जलाशयों को सुखाने और पाटने से विरत रहने का निर्देश दिया है। विभिन्न धातुओं के सिक्कों और मूल्यवान रत्नों के आभूषणों के निर्माण से स्पष्ट है कि खनिज सम्पदा का समुचित विदोहन किया जाता था।

कुटुम्बियों, भृत्यों, दास-दासियों, गोपालकों, भागीदारों, कर्मकारों आदि के बार-बार उल्लेख से निश्चित है कि उत्पादन में श्रम का पर्याप्त योगदान था। कुशल और अकुशल दोनों प्रकार के शिल्पी अपनी योग्यता और क्षमता के अनुरूप विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन कर राष्ट्रीय आय में वृद्धि करते थे। जैनग्रन्थों में अहिंसा-पालन के विधान स्वरूप 'अधिभार' अर्थात् श्रमिक से उसके सामर्थ्य से अधिक श्रम लेने, भोजन आदि की सुविधा न देने, उसको आजीविका से वंचित करने आदि का निषेध करके आज से शताब्दियों पूर्व एक सुनियोजित श्रम-व्यवस्था की स्थापना की गई थी। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में पूँजी के

लिए आज की तरह बैंकों की व्यवस्था तो नहीं थी पर समाज के सम्पन्न-जन जैसे श्रेष्ठी, गाथापति, सार्थवाह, शिल्पियों तथा व्यापारियों के संगठन उत्पादन के लिये व्याज पर ऋण प्रदान करते थे। पूँजीपति दूरदर्शिता के साथ अपने धन का सुनियोजित विभाजन करके उसका चतुर्थांश, व्यापार में घाटे आदि जैसे दुर्दिन की आशंका से सुरक्षित निधि के रूप में रख लेते थे। आर्थिक उत्पादन में प्रबन्ध का सबसे अधिक महत्त्व था। भूमि, श्रम तथा पूँजी के उपलब्ध होने पर भी यह आवश्यक नहीं था कि उत्पादन व्यवस्थित हो इसलिए श्रेष्ठी, सार्थवाह और गाथापति भूमि, श्रम और पूँजी की समुचित व्यवस्था करके उत्पादन करते थे। वे उत्पादन मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं हो पाते थे, वरन् वास्तविक लागत पर माँग और पूर्ति को ध्यान में रखते हुए कम से कम व्यय करके अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे।

समाज में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के व्यवसाय प्रचलित थे परन्तु उपासकदशांग में १५ निषिद्ध कर्मादानों अर्थात् व्यवसायों की सूची से स्पष्ट होता है कि अहिंसा-प्रधान होने के कारण जैन परम्परा उन व्यवसायों की स्वीकृति नहीं देती थी, जो हिंसक, अहितकर या किसी भी रूप में समाज विरुद्ध थे। इसके विपरीत हिंसा और शोषण से रहित मनुष्य के परिश्रम पर आधारित व्यवसायों जैसे कृषि, पशुपालन, विद्या, व्यापार और शिल्प को समाज सम्मत और प्रतिष्ठित मानती थी। अर्थ-व्यवस्था मुख्य रूप से कृषि पर आधारित थी। अहिंसा प्रधान होते हुए भी जैन परम्परा में कृषि कर्म प्रशस्त माना जाता था। कृषकों ने कृषि में इतनी उन्नति कर ली थी कि वे उपज के भण्डारण हेतु वैज्ञानिक पद्धति अपनाते थे और धान्यों को अंकुरण क्षमता दीर्घकाल तक बनाये रखते थे। साधनों के सीमित होने के कारण कृषक बड़े तो नहीं पर छोटे-छोटे भण्डार-गृहों का निर्माण करते थे जिसका लाभ निर्धन किसान भी उठाते थे। दूसरे भण्डार-गृहों थोड़ी-थोड़ी दूर पर होने से परिवहन के साधनों पर निर्भरता भी कम होती थी।

पशुधन की महत्ता को देखते हुए उनके खाने-पीने के प्रबन्ध से लेकर उनको क्षति पहुँचाने वालों के विरुद्ध विधानों तक का उल्लेख किया गया है। पशुधन जहाँ समृद्धि का द्योतक है वहीं लोगों को आजीविका देने की दृष्टि से भी इसकी बड़ी उपयोगिता थी। उपवन-उद्यान और वाटिका

विलास के साधन तो ये ही पर उनका आर्थिक महत्त्व भी कम नहीं था। भाँति-भाँति के फलों, वृक्षों से पौष्टिक आहार और औषधियाँ उपलब्ध होती थीं। जैन ग्रन्थों में आम के सहस्रों वृक्षों वाले वनों के उल्लेख से प्रतीत होता है कि इतने बड़े पैमाने पर लगाये गये वनों-बगीचों का उद्देश्य व्यावसायिक ही रहा होगा। नदियों, झीलों तथा सरोवरों से मछलियों के पकड़े जाने के उल्लेख से मत्स्यपालन की प्रथा का ज्ञान होता है। इससे भी लोगों को आजीविका मिलती थी।

देश के आर्थिक विकास में उद्योगों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। गुप्तकाल में देश की खनिज सम्पदा और वनसम्पदा के विदोहन से उद्योगों में वृद्धि हुई थी। उद्योगों में वस्त्र, काष्ठ, धातु आदि के उद्योग उन्नत अवस्था में थे। गुप्तकाल में सामान्य शिल्पों ने भी लघुस्तरीय उद्योगों का रूप ले लिया था। नगर के बाहर अनेक प्रकार की कर्मशालाओं के होने का उल्लेख प्राप्त होता है इससे तत्कालीन लोगों की सूझ-बूझ का अनुमान लगाया जा सकता है। इससे कच्चे माल और श्रम की पूर्ति सरलता से होती होगी और मालगाड़ियों के आवागमन से नगरीय यातायात बाधित नहीं होता होगा। औद्योगिक और कृषि-उत्पादनों के लिये देशी और विदेशी मंडियाँ थीं। शिल्पियों की सुरक्षा और संरक्षा के लिये उनके संघ और श्रेणियाँ थीं।

जैनग्रंथों से यह भी ज्ञात होता है कि देशी और विदेशी व्यापार श्रेष्ठियों, सार्थवाहों और गाथापतियों के हाथ में था। राजसभा में श्रेष्ठी और सार्थवाह की उपस्थिति राज्य में व्यापार के बढ़ते महत्त्व को प्रदर्शित करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये राजा को वाणिज्य और उद्योग सम्बन्धी परामर्श देने में अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियाँ भी व्यावसायिक बुद्धि रखती थीं। भद्रा नामक सार्थवाही तथा थावच्चा नामक गाथापत्नी इसकी उदाहरण हैं। कृषि और उद्योग से देश की व्यापारिक स्थिति सुदृढ़ हुई थी। व्यापार इतना उन्नत था कि वस्तुओं के आधार पर बाजारों का वर्गीकरण किया जाता था और अलग-अलग वस्तुओं के आपण और हाट हुआ करते थे। उपभोक्ताओं की सुविधा के लिये आज के विभागीय भण्डार की तरह बड़ी-बड़ी दुकानें थीं जिन्हें 'कुत्तियावण' (कुत्रिकापण) कहा जाता था। यहाँ सब प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध थीं। जैन ग्रन्थों में व्यापारियों के लिये निंदनीय और

दण्डनीय माने जाने पर भी आज की भाँति ही वणिक् वस्तु को कम मापने, उसमें मिलावट करने और करों की चोरी करने से अपने को रोक नहीं पाते थे। व्यापार और व्यवसाय की शुद्धता बनाये रखने के लिये जैनग्रन्थों में अस्तेय व्रत का प्रतिपादन किया गया है। जिसका पालन करने पर व्यापारी बेईमानी और चोरी से दूर रहते थे। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि आयातित वस्तुओं पर आयात शुल्क देने का प्रावधान था। किन्तु निर्यात शुल्क का कहीं उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहित और आयात को हतोत्साहित किया जाता था। भारतीय व्यापारी भारत से बाहर दूरस्थ देशों यथा चीन देश, हूणदेश, खसदेश, कमलद्वीप, सुवर्णद्वीप, रत्नद्वीप आदि में व्यापारार्थ जाते थे।

यद्यपि प्राचीन जैन ग्रन्थों के काल में यातायात के साधन आज की तरह विकसित नहीं थे फिर भी देश के विभिन्न व्यापारिक केन्द्र जल-स्थल मार्गों से परस्पर जुड़े हुये थे, स्थल मार्गों के लिये रथ, शकट, हाथी, घोड़े, ऊँट आदि वाहन थे और जलमार्गों के लिये कई प्रकार की जहाज जैसी बड़ो और छोटी पोत, प्रवहन, वाहन तथा कुंज, दत्ति, पणि जैसी छोटी नौकाएँ थीं। भाष्यों तथा चूर्णियों में सर्वत्र सोने-चाँदी और ताँबे के सिक्कों के उल्लेख गुप्तकाल की समृद्ध आर्थिक स्थिति को व्यक्त करते हैं। खाने-पीने और साधारण आवश्यकता की वस्तुएँ सस्ती होने के कारण दैनिक व्यवहार में कौड़ियों और ताँबे के सिक्कों का प्रयोग होता था और उनसे अधिक मूल्यवान सोने-चाँदी के सिक्कों की क्रयशक्ति अधिक होने के कारण उन सिक्कों का कम प्रयोग होता था और उनका उपयोग भूमि के क्रय-विक्रय तथा विदेशी व्यापार में किया जाता था।

ईसा को प्रारम्भिक शताब्दियों में राष्ट्रीय आय के वितरण में विषमता दिखाई पड़ती है। आय का अधिक अंश समाज के एक सीमित वर्ग के पास ही था जिसमें बड़े-बड़े गाथापति, सार्थवाह और श्रेष्ठी सम्मिलित थे। उत्पादन में सक्रिय भागीदार न होने पर भी उनके पास अथाह सम्पत्ति थी और वे राज्य द्वारा सम्मान प्राप्त थे। दूसरा वर्ग भूमि-हीन किसानों, निर्धन श्रमिकों, भूतकों और दास-दासियों का था। उत्पादन में सक्रिय भागीदार होने पर भी उन्हें धन का उचित अंश नहीं मिल

पाता था। सम्पन्न वर्ग उनका शोषण कर उन्हें और विपन्न बनाता जा रहा था।

जैनग्रंथों के विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि राज्य तथा समाज का प्रत्यक्ष रूप में कोई हस्तक्षेप सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर नहीं था पर परोक्ष रूप में धार्मिक नियम उसे प्रेरित करते थे कि वह अपनी संपत्ति को परिसीमित करके अतिरिक्त धन को दान-पुण्य में व्यय करे। जैन परम्परा में विषमता दूर करने के लिए उत्पादन बढ़ाने पर बल दिया गया है। पौराणिक कथाओं के अनुसार जब कल्पवृक्षों के क्षीण होने पर उत्पादन कम हो जाने के कारण पारस्परिक विवाद जन्म लेने लगे तब आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने वैर मिटाने के लिये उद्योग करने तथा उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा दी थी। कार्ल मार्क्स का भी विचार है कि मानव की विभिन्न शक्तियों के विकास के लिये अधिक उत्पादन और समुचित वितरण होना चाहिए जिससे मानव जीवन का भौतिक स्तर ऊँचा हो।

राज्य की सुरक्षा और व्यवस्था के लिये धन की आवश्यकता होती थी। एतदर्थ राजा ग्रामकर, भूमिकर, वाणिज्यकर, उपहार और भेंट, अर्थदण्ड आदि से राजकोश को समृद्ध बनाते थे। करग्रहण करते समय प्रजा की आर्थिक क्षमता को ध्यान में रखा जाता था। कर नकद और वस्तु दोनों रूपों में लिया जाता था। जैनग्रंथों में भी आज की तरह राज्याधिकारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार के कुछ उदाहरण दिखाई पड़ते हैं। वे अनैतिक तरीकों से धन वसूल करके प्रजा को उत्पीड़ित करते थे। करों से बचने के लिये राजा प्रजा को करमुक्त कर देते थे। समाज का निर्धन वर्ग करमुक्त था। राज्य की आय की तरह व्यय का क्षेत्र भी बड़ा व्यापक था। शासन-व्यवस्था, सैन्य-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, अन्तःपुर-व्यवस्था और जन-कल्याण पर राज्य का पर्याप्त धन व्यय होता था। इस प्रकार राजा प्रजा की सुख-सुविधा और समृद्धि का पूरा ध्यान रखता था।

उपासकदशांग में आनन्द श्रावक ने १२ व्रतों को ग्रहण करते समय जिन खाद्य, पेय, परिभोग्य आदि का परिमाण किया था उनसे तत्कालीन रहन-सहन और जीवन-स्तर पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार लोग स्वादिष्ट एवं पौष्टिक भोजन करते और वस्त्रालंकारों को धारण करते थे। गृहों और भवनों से भी तत्कालीन लोगों का आर्थिक स्तर सूचित होता है। सम्पन्न व्यक्ति ऋतुओं के अनुकूल सुख

सुविधापूर्ण आवासगृहों में निवास करते थे और विपन्न साधारण गृहों में ।

जैन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि प्रजा के मनोरंजन के लिये राज्य पर्याप्त धन व्यय करता था । प्रजा भी वनविहार, उद्यानविहार, जल-विहार, विविध महोत्सव, संगीत, नृत्य, नाटक, आखेट, झूत आदि पर धन व्यय करके आनन्द-आमोद के द्वारा अपने को स्वस्थ रखती थी । मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास को ध्यान में रखकर पुरुषों को ७२ और स्त्रियों को ६४ जीवनोपयोगी कलाओं की शिक्षा दी जाती थी । भूमि-विज्ञान, धातुविज्ञान, पशुविज्ञान, वस्त्र-विज्ञान, वास्तु-विज्ञान जैसे विज्ञानों और विद्याओं की शिक्षा से अर्थ के महत्त्व और उसकी उपयोगिता के प्रति अवश्य जागरूकता बढ़ी होगी । आर्थिक समृद्धि में स्वस्थ शरीर के महत्त्व को समझते हुये स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिया जाता था । कुशल वैद्य रोगों का उपचार करके उनका निदान करते थे ।

उपासकदशांग में वर्णित आनन्द आदि दस गाथापतियों के वैभव का वर्णन किसी सीमा तक अतिशयोक्तिपूर्ण होते हुये भी तत्कालीन समाज की विपुल समृद्धि की सूचना देता है । प्राचीन जैन ग्रंथों के विस्तृत अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उनके रचनाकाल में भारत की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी ।



सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

१. अनुत्तरोपपातिकदशा : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
अणुत्तरोत्रवाइयदसाओ : जैन विश्वभारती लाडनूँ, (राजस्थान)
(अंगसुत्ताणि ३)
२. अनुयोगद्वार (आर्यरक्षित) : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
३. अन्तकृत्तदशांग : आगम प्रशासन समिति, ब्यावर
अन्तकृत्तदशांग : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
४. आचारांग : जैनागम प्रकाशन समिति, लुधियाना
आयारो : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी आगम
साहित्य प्रकाशन समिति,
५. आवश्यकसूत्र : जैनागम प्रकाशन समिति, लुधियाना
६. आवश्यकचूर्णि (जिनदासगणि) : प्रकाशक धारणोवाइ, जामनगर
७. आवश्यकनियुक्ति (भद्रबाहु) : आगमोदय समिति, बम्बई
८. आदिपुराण (जिनसेन) : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
९. उत्तरपुराण (गुणभद्र) : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
१०. उत्तराध्ययन : जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर
" : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
" : श्री आगम प्रकाशन समिति,
ब्यावर (राजस्थान)
११. उत्तराध्ययनचूर्णि (जिनदासगणि) : ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर
प्रकाशन, इन्दौर
१२. उपासकदशांग : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
" : श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
उबासगदसाओ (अंगसुत्ताणि ३) : जैन विश्वभारती, लाडनूँ
१३. औपपातिक : श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
ओववाइयं : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
१४. ओघनियुक्ति : जैन ग्रंथमाला, गोपीपुरा, सूरत
१५. कल्पावर्तसिका : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
१६. कल्पसूत्र (भद्रबाहु) : प्राकृत भारती जयपुर
१७. कुवलयमालाकहा (उद्योतनसूरि) : सिधो जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

१८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति : जैन शास्त्रोद्धार मुद्रणालय, हैदराबाद
 ” : जैन शास्त्रोद्धार मुद्रणालय, हैदराबाद
१९. जीवाभिगम : जैन शास्त्रोद्धार मुद्रणालय, हैदराबाद
२०. तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभाचार्य) : जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर,
२१. दशवैकालिक (आचार्य शय्यभव) : जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर
 दसवेयालियं
२२. दशवैकालिकचूर्णि (जिनदासगणि) : श्वेताम्बर संस्था, जामनगर
२३. दशाश्रुतस्कन्ध : जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर
२४. धर्ताख्यान (हरिभद्रसूरि) : भारतीय विद्याभवन, बम्बई
२५. निरयावलिकासूत्र : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
२६. नंदीसूत्र : आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन
 समिति, लुधियाना
२७. निशीथसूत्र (भाग १ से ४ भाष्य : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
 और चूगि सहित)
२८. नीतिवाक्यामृतम् (सोमदेवसूरि) : महावीर जैन ग्रंथमाला, वाराणसी
२९. पिंडनियुक्ति (भद्रबाहु) : पुस्तकोद्धार भंडागार संस्थान, मुम्बई
३०. पञ्चमचरियं (विमलसूरि) : प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी १९६८.
३१. प्रश्नव्याकरण : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
 ” : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
- पण्हावागरणाई (अंगसुत्ताणि ३) : जैन विश्वभारती, लाडनू
३२. प्रज्ञापना (श्यामाय) : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
 ” : श्री आगम प्रकाशन, ब्यावर
३३. बृहत्कल्पभाष्य (संघदासगणि) : श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर
 (भाग १ से ६ तक)
३४. भगवतीसूत्र : अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन
 संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना
 भगवतीसूत्र : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
 (भाग १ से ११ तक)
३५. राजप्रश्नीयसूत्र : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
 ” : जैन शास्त्रोद्धार मुद्रणालय, हैदराबाद
 ” : श्री आगम प्रकाशन, ब्यावर

२०६ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

३६. रत्नकरण्डकश्रावकाचार : दिगम्बर जैन महासमिति, धर्मपुरा,
दिल्ली
३७. विपाकसूत्र : जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लुधियाना
: श्री आगम प्रकाशन, ब्यावर, राजस्थान
: जैन विश्वभारती, लाडनूँ
- ”
विवागसुयं
(अंगसुत्ताणि ३)
३८. व्यवहारसूत्र : जैन शास्त्रोद्धार मुद्रणालय, हैदराबाद
३९. व्यवहारभाष्य : आगामोदय समिति, अहमदाबाद
४०. वसुदेवहिण्डो (संघदासगणि) : श्री आत्मानंद जैन ग्रंथमाला, भावनगर
४१. वज्रालम्ब (जयवल्लभ) : पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रंथमाला,
वाराणसी
४२. सूत्रकृतांग : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
: जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
: श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
(राजस्थान)
४३. समवायांग : श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
(राजस्थान)
: जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
- ”
४४. ठाणांग : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी आगम
साहित्य प्रकाशन
४५. समराइच्चकहा (हरिभद्रसूरि) : प्रकाशक श्री रतिराम शास्त्री साहित्य
भण्डार, मेरठ
४६. ज्ञाताधर्मकथांग : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
: जैन शास्त्रोद्धार समिति मुद्रणालय
हैदराबाद
: जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राजस्थान)
- नायाधम्मकहाओ
(अंगसुत्ताणि ३)
अन्य मूल ग्रंथ
४७. अष्टाध्यायी (पाणिनि) : चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
४८. कौटिलीय अर्थशास्त्र : चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
: पंडित पुस्तकालय, काशी
- ”
४९. गौतमधर्मसूत्र : चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी

५०. जातक कथायें : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
 ५१. मनुस्मृति : चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
 ५२. मिलिन्दप्रश्न : स्थाविर मिश्र डॉ० कित्तिया बर्मी
 धर्मशाला बनारस' वाराणसी
 ५३. मेघदूत (कालिदास) : चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
 ५४. याज्ञवल्क्यस्मृति : चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
 ५५. रघुवंश (कालिदास) : चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
 ५६. शुक्रनीति : चौखम्बा प्रकाशन; वाराणसी

अन्य सहायक पुस्तक

१. अपरिग्रहदर्शन आचार्य अमर
 मुनि जी, : सन्मति ज्ञानपीठ आगरा
 २. अ कल्चलर स्टडी आफ : सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
 (निशीथचूर्णि) मधुसेन वाराणसी
 ३. अर्ली इंडियन इकोनोमिक : एन०एम० त्रिपाठी, प्राइवेट लिमिटेड
 हिस्ट्री-आर एन सैलटोर बम्बई
 ४. आगम और त्रिपिटक : अर्हत् प्रकाशन, अखिल भारतीय जैन
 एक अनुशीलन मुनिनागराज श्वेताम्बर तेरापंथी समाज, कलकत्ता
 ५. आगम और व्याख्या साहित्य : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
 विजयमुनि और समदर्शीमुनि
 ६. आदिपुराण में प्रतिपादित : गणेश प्रसाद वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी
 भारत, डॉ० नेमिचन्द्रशास्त्री
 ७. इकोनोमिक लाइफ एंड : आर०एन०सील, १०७ मेघू बाजार
 प्रोग्रेस इन एन्वैरेंट इंडिया : स्ट्रीट, कलकत्ता
 प्रथम, द्वितीय, नारायणचन्द्र
 वन्द्योपाध्याय
 ८. इकोनोमिक लाइफ आफ : कलकत्ता वर्ल्ड प्रेस प्राइवेट लिमिटेड
 नार्दन इण्डिया इन गुप्ता
 पीरियड, एस०के०मैती
 ९. इकोनोमिक लाइफ आफ नार्दन : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
 इण्डिया, लल्लन जी गोपाल

२०८ : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

१०. इकोनोमिक लाइफ इन एन्श्येंट इंडिया। एज डिपिक्टड इन जैन कैनानिकल लिटरेचर, दिनेन्द्र जैन : रिसर्च इंस्टीट्यूट आफ प्राकृत इंडिया, जैनालाजी एण्ड अहिंसा, वैशाली (बिहार)
११. इंडिया एज डिस्क्राइब्ड बाई अर्ली ग्रीक राइटर्स, बैजनाथपुरि : इंडालोजिकल बुक हाउस, वाराणसी
१२. इंडिया आफ वैदिक कल्पसूत्र रामगोपाल : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
१३. उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन, आचार्य तुलसी : आगम साहित्य प्रकाशन, कलकत्ता
१४. एग्नेरियन ऐंड फिस्कल इकोनोमी इन मोर्या एंड पोस्ट मोर्या एज, एन० एन० खेर : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
१५. एन्श्येंट ज्योग्राफी आफ इंडिया, कनिंघम :
१६. कुवलयमालाकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ० प्रेमसुमन जैन : प्राकृत जैनशास्त्र एवं अहिंसा शोध-संस्थान, वैशाली
१७. कौटिल्यकालीन भारत आचार्य दीपकर : हिन्दो समिति सूचना विभाग, लखनऊ
१८. कालिदास का भारत डॉ० भगवतशरण उपाध्याय : भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
१९. चन्द्रगुप्त मौर्य और उनका काल, डॉ० राधाकमल मुखर्जी : राजकमल प्रकाशन, इलाहाबाद
२०. गुप्त साम्राज्य, डॉ० परमेश्वरो लाल गुप्त : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
२१. गुप्त साम्राज्य का इतिहास प्रथम, द्वितीय वामुदेव उपाध्याय : इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद
२२. जैनसाहित्य का इतिहास, कैलाशचन्द्र शास्त्री : श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला
२३. जैनसाहित्य का बृहद इतिहास, (भाग १ से ७) : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

२४. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, : जैन इतिहास समिति, जयपुर
प्रथम, एवं द्वितीय भाग
आचार्य श्री हस्तीमल जी
२५. जैन आगम साहित्य में भारतीय : विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रंथमाला,
समाज, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन वाराणसी
२६. जैन कथा-कहानियाँ दो हजार : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
वर्ष पुरानी, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
२७. जैनदर्शन मनन और मोमांसा, : आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन चुरू,
मुनि नथमल (राजस्थान)
२८. जैन कथाओं का सांस्कृतिक : वोहरा प्रकाशन, जयपुर
अध्ययन, श्रीचन्द्र जैन
२९. जैन, बौद्ध और गीता के आचार : प्राकृत भारती संस्थान, राजस्थान
दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन,
डॉ० सागरमल जैन
३०. जातककालीन भारतीय संस्कृति, : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
डॉ० मोहनलाल महतो
३१. तीर्थंकर महावीर और उनकी : जैन विद्यापरिषद्
आचार्य परंपरा (भाग १ से ४)
डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री
३२. द कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ : पब्लिशड इन इंडिया वाई० एस०
इंडिया, ई० जे० रेपसन चन्द्र एण्ड को०
३३. दशवैकालिक : एक सांस्कृतिक : आगम साहित्य प्रकाशन समिति,
अध्ययन, मुनि नथमल कलकत्ता
३४. निशीथ एक अध्ययन, : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
पं० दलमुख मालवणिया
३५. नंद-मौर्ययुगीन भारत, : मोतीलाल बनारसीदास
नीलकंठ शास्त्री
३६. पतञ्जलिकालीन भारत, : राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
प्रभुदयाल अग्निहोत्री
३७. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, : महताबराय द्वारा नागरी मुद्रण
वासुदेवशरण अग्रवाल

२१० : प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

३८. प्रिंसिपल्स आफ इकोनोमिक्स, : दी इंगलिश बुक सोसायटी, मैकमिलन
एलफर्ड मार्शल
३९. प्रिंसिपल ऑफ पोलिटिकल :
इकोनोमी, जानस्टुअर्ट मिल
४०. प्राचीन भारत : इतिहास और : हिन्दी अनुवादक मुनीश सक्सेना एशिया
संस्कृति, बी० जी० गोखले पब्लिशिंग हाउस; बम्बई
४१. प्राचीन भारतीय आर्थिक विचार, : वोहरा पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स
रामनरेश त्रिपाठी इलाहाबाद
४२. पोलिटिकल हिस्ट्री आफ नार्दन : सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति,
इंडिया फ्रॉम जैन सोसैज़, अमृतसर
गुलाब चन्द्र चौधरी
४३. प्राचीन भारतीय वेशभूषा, : भारत दर्पण ग्रंथमाला, प्रयाग
डॉ० मोतीचन्द्र
४४. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का : प्रज्ञा प्रकाशन, पटना
अध्ययन, वासुदेव उपाध्याय
४५. प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह : प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं
भाग प्रथम, द्वितीय पुरातत्त्व विभाग, वाराणसी
ए० के० नारायण
४६. प्राचीन भारतीय मुद्रायें : प्रज्ञा प्रकाशन, पटना
डॉ० वासुदेव उपाध्याय
४७. प्राचीन मुद्रा, : काशी नागरी प्रचारिणी सभा
श्री युक्तराखाल दास
४८. प्राचीन भारतीय अर्थ विचारक, : विवेक घिल्डियाल बन्धु आगरा,
डॉ० अच्युतानंद घिल्डियाल वाराणसी
४९. प्राकृत साहित्य का इतिहास, : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
५०. प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं : सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद
सांस्कृतिक इतिहास
डॉ० विमलचन्द्र पांडेय
५१. प्राचीन भारत में संघटित जीवन, : हिन्दी अनुवादक प्रो० कृष्णदत्त
डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार वाजपेयी, सागर विश्वविद्यालय
भारत सरकार

५२. बौद्ध और जैन आगमों में नारी : सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति,
जीवन, कोमलचन्द्र जैन अमृतसर
५३. बुद्धिस्ट इण्डिया, : सुशील गुप्ता लिमिटेड, कलकत्ता
टी० डब्ल्यू० रोज़डेविडज
५४. बौद्धकालीन समाज और धर्म, : बिहार हिन्दी अकादमी, पटना
मदनमोहन सिंह
५५. भारत का इतिहास, : राजकमल प्रकाशन, नईदिल्ली
रोमिला थापर
५६. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का : मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्,
योगदान, डॉ० हीरालाल जैन भोपाल
५७. भारत का प्राचीन इतिहास : सरस्वती सदन, मंसूरी
सत्यकेतु विद्यालंकार
५८. भगवान महावीर आधुनिक : मोतीलाल बनारसीदास
संदर्भ में, डॉ० नरेन्द्र भानावत
५९. भारतीय अभिलेखों का संग्रह, : हिन्दी अनुवादक गिरजाशंकर मिश्र,
जान फेथफुल फलीट राजस्थान हिन्दी ग्रंथ एकादमी, जयपुर
६०. यशस्तिलक एक सांस्कृतिक : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
अध्ययन, डॉ० गोकुल चन्द्र जैन वाराणसी
६१. यशस्तिल एण्ड इंडियन कल्चर : जोवरराज जैन ग्रंथमाला, शोलापुर
कृष्ण कान्त हन्दिनी
६२. रेवेन्यू सिस्टम इन पोस्ट मौर्या : पुंथी पुस्तक, कलकत्ता
एण्ड गुप्ता पोरियड,
दिनेन्द्र नारायण झा
६३. लेबर इन एनशियंट इण्डिया, : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
पुरुषोत्तमचन्द्र जैन
६४. लार्ड महावीर एंड हिज टाइम्स, : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
के० सी० जैन
६५. स्टडीज इन ज्योग्राफी आफ : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
एन्जियंट एंड मोडिवल इंडिया,
डी० सी० सरकार
६६. सिमेटेड बुक्स आफ दी ईस्ट : एडिटेड बाई मैक्समूलर, आक्सफोर्ड
वाल्थूम १४ जेकबहरमन यूनिवर्सिटी

२१२ : प्राचिन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन

६७. स्टडी इन एनशियंट हिस्ट्री एंड : लोकभारती पब्लिकेशन, इलाहाबाद
कल्चर, उदयनारायण राय
६८. समराइचकहा का सांस्कृतिक, : भारती प्रकाशन, वाराणसी
अध्ययन, झिनकू यादव
६९. सार्थवाह, डॉ० मोतीचन्द्र : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्,
७०. हिन्दू सम्यता, : हिन्दी अनुवादक वासुदेवशरण अग्रवाल
डॉ० राधाकुमुद मुर्जी राजकमल प्रकाशन, बंबई
७१. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् सम्मेलन
वासुदेवशरण अग्रवाल भवन, पटना

जैन पत्रिकाओं और अभिनन्दन ग्रंथों में लेख

- १—जैन शास्त्रों में १८ श्रेणियों का उल्लेख, ज्ञानचन्द्र, श्रमण वर्ष २७, अंक २.
- २—जैन ग्रंथों में कृषि, डॉ० अच्छे लाल, श्रमण वर्ष २४, अंक २.
- ३—जैन साहित्य में जनपद, डॉ० अच्छेलाल, श्रमण वर्ष २६ अंक १.
- ४—जैन धर्म में सामाजिक आर्थिक न्याय, सौभाग्यमल जैन, सम्बोधि, वर्ष ७
अंक ८-९.
- ५—जैन दृष्टि में संपत्ति विनियोग, खुशाल चन्द्र, चंदाबाई अभिनन्दन ग्रंथ.
- ६—जैन आगम औपपातिक का सांस्कृतिक अध्ययन, विजय मुनि, जिनविजय
अभिनन्दन ग्रंथ.
- ७—जैनधर्म में व्यावसायिक पूँजीवाद, श्री कृष्णलाल शर्मा, श्रमण वर्ष १२.
- ८—जैन विचार-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में, बाबूलाल जैन, जमादार अभिनन्दन ग्रंथ.
- ९—समराइचकहा युगो न भारत में स्थानीय व्यापार एवं वाणिज्य, डॉ० सुरेश-
चन्द्र अग्रवाल, श्रमणोपासक, अगस्त १९८१.
- १०—सूत्रकृतांग के आधार पर आगमकालीन सम्यता एवं संस्कृति, मुनि दुलहराज,
तुलसी प्रज्ञा, अंक २, १९६८.
- ११—अपरिग्रह और समाजवाद, विमल कुमार जैन, गुरु गोपाल दास वरैया
स्मृति ग्रंथ.
- १२—महावीर : वर्ण व्यवस्था के संदर्भ में, बट्टी प्रसाद जैन, जैनप्रकाश, वर्ष ६५,
अंक २३.
- १३—महावीर का साम्यवाद, धर्मचन्द्र जैन, सन्मतिवाणी, वर्ष ११, अंक ७.
- १४—आगमकालीन समाज व्यवस्था, विजयमुनि, अमरभारती, वर्ष १६, अंक
फरवरी-मार्च ।



डॉ० (श्रीमती) कमल जैन का जन्म १९ अक्टूबर, १९४१ ई० को जम्मू में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा जम्मू में हुई। गृहस्थ जीवन के साथ-साथ आपका अध्ययन भी कुछ व्यवधानों के साथ चलता रहा। आपने एम० ए० (अर्थशास्त्र) की उपाधि जम्मू और कश्मीर विश्वविद्यालय से प्राप्त की। आपको “प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन : एक अध्ययन” नामक शोध विषय पर सन् १९८६ ई० में का० हि० वि० वि० से पीएच-डी० की उपाधि प्राप्त हुई। आपके पति श्री राजेन्द्र कुमार जैन भारतीय रेल में उच्चाधिकारी हैं। आप अपने विनम्र व्यवहार एवं विद्या प्रेम के कारण सदैव ही स्नेह और सम्मान की भाजन रही हैं।

आपको यह कृति एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है।